कथा-वीथी

[प्रतिनिधि कहानी-संकलन]

डॉ० राजश्वर गुरु
आचार्यं
शासकीय महाविद्यालय
रायपुर

उन्हीं अमर कथाकारों क

जिनकी कहानिय

कथा-वीथी म

संकलित की गई है

अनुक्रमणिका

हिन्दी कहानी का परिपार्श्व

कहानी : व्याख्या–वैविध्य

साहित्य-कला के किसी अंग की वैधानिक स्थिति का स्मरण आते ही सबसे पहले काव्य की ओर हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट हो जाता है, और काव्य रूपात्मक दृष्टि से वह अनुकरणपूरक कला है, जिसका मुख्य आधार सामाजिक परिस्थितियों के साथ संवेदनात्मक तादात्म्य किंवा आत्मान्वेषण होता है।

महामना अरस्तू का मत है कि अनुभूति और कल्पना, इंद्रियों के माध्यम से, जो प्रतिबिम्ब कवि के मानस पर रूपायित करती है, कवि उसी को व्यक्त करता है। पर कालान्तर में ड्राइडन ने अरस्तू के इस कथन में एक किन्तु लगा दिया। वे बोले—माना कि वास्तविक अनुकृति का कवि-कर्म के साथ बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, किन्तु आत्मा को आकृष्ट, अनुभूतियों को उद्दीप्त और संवेदनों को उत्तरंग बनाना अनुकरण से कहीं अधिक उपयोगी है।

ध्यान से देखें तो काव्य का यह लक्षण कहानी के अधिक समीप प्रतीत होगा। क्योंकि आन्तरिक अनुभव हमें प्रत्येक क्षण आन्दोलित करते रहते हैं और प्रत्येक परिस्थिति में हमारी अभिव्यक्ति, मानसिक प्रतिक्रिया से, सृजन के आधार ग्रहण करती है।

हेनरी बर्गसाँ का कथन है कि वे समस्त जीवन-वृत्त जिन्हें कृतिकार अपनी रचना में व्यक्त करता है, उसकी सहज अनुभूति के अंग होते हैं। तात्पर्य यह कि जो अनुभूतियाँ संवेदन और संवेग को जगाने में सक्षम

होती हैं वही अभिव्यक्ति को समीचीन और समर्थ संप्रेरणा देती हैं। क्योंकि हार्दिक उन्मुक्तता उन्हीं से स्फुरण संवेग प्राप्त करती है। कदाचित इसी भाव-भूमि पर आकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को कहना पड़ा, "हृदय की मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य जो शब्द-विधान प्रस्तुत करता है, उसको कविता कहते हैं।"

यहाँ प्रश्न उठता है कि हृदय की मुक्ति-साधना तो काव्य की आत्मा है, पर काव्य या किसी भी कृति को हम केवल शब्द-विधान की सीमा में रखकर स्वच्छन्द मानवीय संवेदनों के साथ कहाँ तक न्याय कर सकते हैं! महाकवि 'प्रसाद' का अभिमत है कि, "सत्य की वह अनुभूति जो संकल्पात्मक रूप धारण कर लेती है कविता कहलाती है।"

यहाँ प्रसाद जी ने यथार्थ की जिस संज्ञा को संकल्पात्मक रूपान्तर कहा है, उसे यदि हम इसी संदर्भ में कल्पनात्मक मान लें, तो वह भी कहानी के लक्षण के अधिक निकट आ पहुँचेगी, क्योंकि यह मत महामना थामसन के इस कथन को स्पर्श कर लेता है कि विवेक और कल्पना के योग से सत्य और आनन्द को संयुक्त करने की कला का ही नाम काव्य है। यहाँ भी यदि हम चाहें तो 'काव्य' के स्थान पर 'कहानी' शब्द डालकर अपने मूल विषय के सम्यक् समीप आ पहुँचेंगे।

इस स्थल पर काव्य के साथ कहानी के लक्षणों का सामीप्य जो बार-म्बार हमें दृष्टिगत होता है, उसके मूल में वे संवेदन हैं, जो काव्य, कहानी तथा उपन्यास में थोड़े बहुत-अन्तर से सदा परिलक्षित हुआ करते हैं। बात यह है कि काव्य की आत्मा रस है और उपन्यास तथा कथा को हम कला की दृष्टि से काव्य का एक अंग मानते हैं।

कहानी का जन्म हुए कितने युग बीते, यह कहना कठिन है। रिचर्ड-बर्टन के मत से यही कहा जा सकता है कि कहानी संसार की सर्वाधिक

प्राचीन वस्तु है। आश्चर्य नहीं कि उसका प्रारम्भ उसी समय हुआ हो, जब मनुष्य ने घुटनों के बल चलना सीखा था। यह मान लेना तो जीव-धारियों के क्रम-विकास जैसे महत्वपूर्ण विषय की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि की उपेक्षा करना है कि संसार सदा से ऐसा ही रहा है। जहाँ तक ज्ञान की प्रारम्भिक उपलब्धि का सम्बन्ध है, मनुष्य पहले काननवासी था। जीवन की आवश्यकताओं ने उसे पहले कुटीरवासी, फिर कालान्तर में ग्रामवासी और सभ्यता के उद्भवजन्य प्रागैतिहासिक काल में नागरिक और सामाजिक बनाया। मनुष्य की स्वाभाविक आकांक्षाओं की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि ने कुछ नीति-रीति और विधान स्थिर किये, संस्कारों में स्थिरता और सभ्यता ने वह रूप धारण किया जिसकी शीतल छाया के नीचे आज हम जीवन में 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' का पावन अनुभव प्राप्त कर रहे हैं।

इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब-जब युद्ध हुए, सभ्यता ने विकास-मूलक करवटें लीं, मानवीय हितों और संस्कारों, आकांक्षाओं और उपलब्धियों ने न जाने कितने मोड़ लिये। युग पर युग बीतते गये। अपनी आदिम अवस्था में जब मनुष्य घुटने के बल चल रहा था, तब भी वह कभी उदास-उदास, कभी अश्रुगभित, कभी हँसता और मुस्कराता हुआ एक कहानी कह रहा था और आज राकेट में बैठकर साहस, वीरता और बुद्धिमत्ता से ओत-प्रोत महत्वपूर्ण किन्तु संकटापन्न, विविध प्रकार की आकांक्षाओं के साथ-साथ, अत्यन्त धीर, किन्तु साथ ही अमाङ्गलिक भावनाओं से परिपूर्ण चन्द्रलोक की यात्रा कर रहा है, तब भी वह अपनी उद्देश्यपूरक सफलता की कैसी कौतुक और कुतूहल से भरी कहानी कह रहा है!

कहानी यद्यपि अपने सामान्य रूप में घटना के परिवेश तक ही सीमित जान पड़ती है, पर वास्तव में वह घटना मात्र नहीं है। कला

की दृष्टि से विवेकात्मक सहानुभूति किंवा संवेग को सम्प्रेषित करने की क्षमता जितनी कहानी में है, उतनी अन्य किसी साहित्यिक विधा में नहीं है। इसीलिए अपने लक्षण और व्यापक प्रभाव की दृष्टि से सभ्यता की अभिवृद्धि के साथ-साथ कहानी की रूप-सज्जा में उत्तरोत्तर परिष्कार होता आ रहा है। एक व्यक्ति के साथ दूसरे व्यक्ति की आत्मीयता स्थापित करने में कहानी एक ऐसा सूत्र है, जो सहज ही टूटना नहीं जानता। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्य हो रहा है, त्यों-त्यों उसकी बौद्धिक चेतना के सूत्र जटिल होते जा रहे हैं, किन्तु कहानी मनुष्य के आन्तरिक क्षोभ और संत्रास को संतुलित रखने और उसे समाधिक संवरण करने में सफल हुई है।

कहानी की सर्वविदित और सर्वमान्य परिभाषा करना दुष्कर है; क्योंकि साहित्य-कला के क्षेत्र में एक-से-एक बढ़कर भिन्न रुचिवाले विनोदी और दुस्साहसी आचार्य हो गये हैं। कालरिज का कथन है कि "कविता का सम्पूर्ण रस तभी मिलता है, जब वह भली भाँति समझ में नहीं आती है।"

फास्टर का मत है कि "कहानी परस्पर सम्बद्ध घटनाओं का वह क्रम है जो किसी परिणाम पर पहुँचा देता है।" और ह्यू वाकर महोदय का तो विचार है, "जो कुछ मनुष्य करे, वही कहानी है।"

अब इन तीनों कथनों पर एक बार विचार कर लीजिए। जब कविता भली-भाँति समझ में ही न आयेगी, तो उसकी सम्प्रेषणीयता की क्या स्थिति होगी, और परस्पर सम्बद्ध घटनाओं का क्रम, जो किसी एक परिणाम पर पहुँचा दे, कहानी के संदर्भ में सामान्य रूप से कुछ सही प्रतीत होता है; पर फिर सहसा प्रश्न उठता है कि क्या कहानी रचना प्रक्रिया मात्र है? यदि ऐसा होगा, तो रचनाकार की आन्तरिक संवेदना के साथ सामाजिक परिवेश का वृत्तलाघव उपेक्षित न रह जायगा, और

मनुष्य जो कुछ करे, वही कहानी है, भला कैसे सम्भव है ? जो
मनुष्य न करे, बहुत आकांक्षा रखते हुए भी न कर पाये, उपलब्धि
सफलता के निकट पहुँचता-पहुँचता भी अन्त मे न पहुँच पाये, जिस
कभी सन्तोष और शान्ति न मिले, जिसकी कुण्ठा सदा बनी रहे,
उसकी कोई कहानी सम्भव नही ? फिर जिस इतिवृत्त में विवेक
कल्पना का संवेगात्मक सयोजन नही, वह कहानी कैसे बन जायेगी ।

एडगर एलन पो का अभिमत है कि कहानी एक (निश्चित)प्र
का वर्णनात्मक गद्य है, जिसके पढ़ने मे आध घंटे से लेकर एक घंटे
समय लगता है । इसके स्पष्टीकरण मे वे बतलाते हैं कि कथाकार
कुशल और निपुण हुआ, तो वह कहानी में पहले कोई घटना-चक्र दे
फिर उसमें अपने विचारों की कड़ियों का सम्पर्क डालेगा । सतर्कत
साथ वह अपने लक्ष्य, बिन्दु और प्रभाव की कल्पना का सन्निवेश करे
पर वह घटनाओ की कल्पना और कथा की संयोजना ऐसे ढंग से क
कि उसका लक्ष्य और प्रभाव चरम सीमा तक आ पहुँचेगा । उनके कथ
नुसार पाठकों के विवेक और मर्म को स्पर्श करना लेखक के
आवश्यक है । घटनाओ के तारतम्य मे वह कोई ऐसा आदर्श उप
करे, जो चरित्र-निर्माण मे सहायक हो, पर उसमे भरती का एक
शब्द न होना चाहिए ।

हड्सन का कथन है कि कहानी में चरित्र व्यक्त किया जाता
और उपन्यास मे उसके पूर्ण विकसित रूप की प्रतिष्ठा होती है ।

जैक लण्डन का मत है कि कहानी मूर्त, सम्बद्ध, सत्वरित, सजीव
रुचिकर होनी चाहिए ।

बैरी पेन का कथन है कि उपन्यास एक तृप्ति और निराकरण
और कहानी प्रोत्साहन तथा उत्तेजना । उपन्यासकार विश्लेषक हो
और कहानीकार संश्लेषक ।

वालपोल का कथन है कि कहानी में घटनाओं का एक विवरण होना चाहिए। वह घटना ही नहीं, दुर्घटना से भी संकुल हो, उसकी गति में तीव्रता हो और उसकी चरम परिणति अप्रत्याशित हो। उसमें दुविधा का आकर्षक माध्यम हो और परिणति उसकी संकटापन्न हो। कहानी की स्थिति उस घुड़दौड़ की सी है, जिसका प्रारम्भ और अन्त ही महत्व-पूर्ण होता है।

जे० बी० ईसनवीन का अभिमत है—प्रभाव की एकता, कथानक की श्रेष्ठता, घटना की प्रधानता, एक प्रधान पात्र तथा किसी एक समस्या का समाधान—कहानी में ये पाँच गुण होने चाहिए। कथानक में घटनाओं का ऐसा तारतम्य हो कि तीव्रता सुरक्षित रहे, घटना स्वाभाविक और सम्भाव्य हो, प्रसंग नाटकीय हो और दुविधा का परिपूर्ण निर्वाह हो।

पोकाक का मत है कि कहानी का प्रत्येक अंश प्रसंगानुकूल और समीचीन होना चाहिए। न तो उसके भावों में दुरूहता होनी चाहिए न शब्दजाल। प्रत्येक शब्द, वाक्य और कथन का सम्बन्ध वस्तु, चरित्र तथा वातावरण से होना आवश्यक है। जब हम कहानी पढ़ चुकें तो हमें कुछ ऐसा प्रतीत हो कि इसमें एक भी पंक्ति छोड़ी नहीं जा सकती। कदाचित उनका अभिप्राय यह है कि थोड़े शब्दों मे अधिक से अधिक प्रभाव डालना आवश्यक है।

इस संदर्भ में सहसा एक दृष्टान्त स्मरण आ गया। एक बार कहीं सबसे छोटी कहानी के लिए एक पारितोषिक रक्खा गया। जिस कलाकार को वह प्राप्त हुआ उसकी कहानी इस प्रकार थी—

एक रेल के डिब्बे में, किसी भद्र पुरुष ने अपने सहचारी से कहा—"मुझे भूतों पर विश्वास नहीं है।"

"अच्छा, ऐसी बात है!" दूसरे ने उत्तर दिया और वह तत्काल अन्तर्धान हो गया।

स्टीवेन्सन का मत है, "कहानी जीवन भर का प्रतिनिधित्व नहीं करती, वह तो उसकी कुछ दशाओं का ही वर्णन है। लघु कथा भी पहले कथा है। लघु का गुण तो तब देखा जायगा जब वह समाप्त हो जायगी। यह समझ लेना उचित न होगा कि वह एक संक्षिप्त उपन्यास होती है। यद्यपि उसमें नाटकीय गुण होता है, तथापि यह समझ लेना भी समीचीन न होगा कि वह नाटक के अनेक भेदों से से एक है। सच पूछिए तो वह एक निर्दिष्ट प्रक्रिया में जीवन के किसी अंश विशेष को ही व्यक्त करती है। वह उसका कोई ऐसा प्रसंग प्रस्तुत करती है जो उसकी किसी एक परिस्थिति, अनुभूति और घटना की नाटकीयता से उसके सम्पूर्ण जीवन की एकरसता और परिपूर्णता की छाप पाठक के मन पर छोड़ जाती है।

प्रेमचन्द जी ने यत्रतत्र कहानी के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं, वे बड़े ही मूल्यवान हैं। उनका कहना यह है कि बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता है, उसमें कहीं न कहीं देवता अवश्य छिपा रहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है और इसी (छिपे सत्य) को खोलकर दिखा देना समर्थ आख्यायिका का काम है।

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है, "कहानी ऐसा उद्यान नहीं, जिसमें भाँति-भाँति के फूल और बेलें सजी हुई हैं। बल्कि वह एक गमला है, जिसमें एक ही गमले का माधुर्य (सौरभ) अपने समुन्नत रूप में दृष्टि-गोचर होता है।"

समालोचना-शास्त्र के अग्रणी आचार्य स्वर्गीय पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है, "जिस प्रकार चित्र में सारा खेल रेखाओं और रंगों का ही होता है, सारा प्रभाव साधनों पर ही अवलम्बित रहता है उसी प्रकार श्रेष्ठ कहानी में व्यंजक और व्यंग्य का—कथा और उसके उद्देश्य का एकीकरण हो जाता है। नवीन कहानी साध्य को साधन से, उद्देश्य को

करके मनुष्य की नसर्गिक प्रवृत्ति पर अपना कोई विधान आरोपित न कीजिए।"

एक बड़े युग तक हिन्दी कहानी में जीवन के नैतिक पक्ष, उज्ज्वल चरित्र और आदर्शोन्मुखी प्रवृत्तियों की ही छाप रही है। पर, आधुनिक हिन्दी कहानी में शिल्प ही नहीं, नैतिक मान्यताओं के संरक्षण सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी टूट गए हैं। जैनेन्द्र जी का कथन है कि "कहानी मूल रूप में शिल्प नहीं संवेदन और संवेद्य है।" स्वयं प्रेमचन्द्र जी ने अपने प्रौढ़ रचना-काल में कहा था, "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूति की मात्रा अधिक होती इतना ही नहीं है। बल्कि, अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"

एक युग था, जब हम सम्पूर्ण कला को जीवन के हेतु मांगलिक और कल्याणकारी रूप में देखने के अभ्यस्त थे। यह युगव्यापी सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों का ही प्रभाव है कि स्वयं प्रेमचन्द जी आदर्श स्थापन और नैतिक मान्यताओं के संरक्षण के स्थान पर जीवन के स्वाभाविक और यथार्थ स्वरूप को कहानी का मुख्य उद्देश्य मानने लगे। उनको कल्पना के स्थान पर अनुभूति की सत्ता को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देना पड़ा। फिर आगे चलकर रूप-विधान में भी उत्क्रांति का उद्‌भव हुआ। उन्होंने एक स्थल पर कहा, "अब हम कहानी का मूल्य उसके घटनाविन्यास से नहीं देखते, हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे।" आचार्य प्रवर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी यह स्वीकार करते हैं कि, "प्राचीन संस्कारों की रूढ़ि के प्रति विद्रोह और यथार्थ की चेतना के अनुरूप नवीन संस्कारों के बीजारोपण का प्रयास इस युग

ी महत्वपूर्ण उपलब्धि है।" रूढ़ि के प्रति विद्रोह और यथार्थ की चेतना
: प्रति अनुराग एक प्रकार से प्रत्येक युग का वैचारिक धर्म रहा है।
(र तक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य जो
ाहर से दिखायी देता है, वह भीतर से नहीं है। जो कार्य वह करता
रहता है, वह संकट अथवा प्रवाह में पड़कर बिना समझे-बूझे कर डालता
है। इसी बात को हम इस भाँति भी कह सकते हैं कि जो वह करता
है, वह वास्तव में नहीं करता क्योंकि उसका मानस-लोक उसके बाह्य
कृतित्व से भिन्न है। वह सोचता है कि अगर मैं नहीं हूँ तो संसार के
अस्तित्व का मेरे लिए क्या मूल्य है। कदाचित् इसीलिए सम्यक् मोहों,
आकर्षणों, प्रभावों और पथ में मिले हुए सहचारियों के मन्तव्य, आग्रह
और अनुरोध पर वह चलता तो आगे रहता है पर अपनी स्वाभाविक
वृत्तियों और अकांक्षाओं के अनुरोधों को पीछे छोड़ आता है और
कालांतर में उसके जीवन में एक ऐसा दिन उपस्थित हो जाता है जब
वह किसी प्रकार का बंधन स्वीकार नहीं करता है। यशपाल जी
कहते हैं, "कला, साहित्य और संस्कृति पर व्यक्तिगत, देशकाल से सीमित
सामाजिक संस्कारों और अभ्यासों के बन्धन लगा देना उचित नहीं। न
उस दृष्टिकोण से साहित्य, कला और संस्कृति की उपलब्धियों के
औचित्य, अनौचित्य, श्लीलता अथवा अश्लीलता का निर्णय किया जाना
चाहिए। इन उपलब्धियों को व्यक्तिगत और संस्कार विशेष के दृष्टि-
कोण से सीमित करने का प्रयत्न उन्हें पंगु और विरूप बना देता है।"

यहाँ यह स्वीकार कर लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि कहानी
के आधुनिक स्वरूप पर पश्चिमी कथा-साहित्य का ही सर्वाधिक प्रभाव
पड़ा है। यहाँ तक कि कभी-कभी यह भी सुनने में आता है कि आज की
कहानी वास्तव में पश्चिमी कहानी की देन है। पर यह देखकर बड़ा
आश्चर्य होता है कि वास्तव में कथा साहित्य का मूलतः उद्गायक और
कथा-वीथी

निर्माता, भारतवर्ष ही है। क्योंकि उसका गौरव-पूर्ण इतिहास कथा के रूप में ही प्रमुख रूप से मिलता है। आचार्य पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि मिस्टर बेनफी साहित्य के ऐतिहासिक अनुसंधान में अपना एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनका भी यही अभिमत है कि निखिल संसार के कथा साहित्य को भारतवर्ष ने ही विशेष प्रेरणा दी है। मिस्टर विण्टर नित्स ने भी स्वीकार किया है कि 'पंचतंत्र' में विश्वव्यापी मानव प्रवृत्तियों का सर्वाधिक रोचक और प्रभावशाली अध्ययन हमें मिलता है। मिस्टर वुल्फ ने तो उसके अरबी अनुवाद के आधार पर जर्मन भाषा में जो अनुवाद प्रस्तुत किया है, उसमें यह स्वीकार किया है कि बाइबिल के पश्चात् जिस ग्रन्थ का अनुवाद सब से अधिक हुआ है, वह पंचतन्त्र ही है।

सभ्यता, सौजन्य और शिष्टाचार की दृष्टि से देखें तो यह स्थिति कम मनोरंजक और गौरवपूर्ण नहीं है कि हम कहें-महाराज आपसे ही हमने कहानी कहना सीखा और आप कहें--नहीं भाई, हमने तो आपसे ही प्राप्त किया!

महामना द्विवेदी जी ने इस विषय में कतिपय बातें कुछ चौंकाने वाली कही हैं। उनका कथन है कि 'पंचतन्त्र' का रचना काल अब तक अनिश्चित है। परन्तु यह निश्चित है कि उसका प्रथम अनुवाद पहलवी भाषा में हुआ, जिसे हकीम बर्जो ने किया और किया बादशाह नौशेरवाँ (सन् ५३१-५७९) के आदेश पर। तत्पश्चात् उसका अनुवाद सीरियन भाषा में हुआ, फिर चेकोस्लोवाकिया, ग्रीक, इटली आदि में। बारहवीं शताब्दी में इसका अनुवाद हिब्रू भाषा में रोबीजोएल ने किया। उसके बाद कहीं लैटिन में हुआ और कहते हैं वही सर्वाधिक लोकप्रिय प्रमाणित हुआ।

हमारे यहाँ साहित्य पहले पद्य में लिखा गया। वेदों की जिन ऋचाओं का एक व्यापक प्रसार और विस्तार हमें मिलता है, वह सब पद्यरूप में है। 'ऋचा' शब्द का शाब्दिक अर्थ ही पद्य है। यही कारण है कि कहानी का उद्भव संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम पद्य में हुआ। तदनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में भी लिखे गये। 'कादम्बरी' इसका एक समुज्ज्वल उदाहरण है।

संस्कृत साहित्य में 'अग्निपुराण' भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। उसमें कथा के जो लक्षण प्रतिपादित हुए हैं, उनके अनुसार कथा में कृतिकार के वंश की सोदाहरण प्रशंसा, कन्याहरण, हरण में युद्ध और साथ ही विप्रलम्भ। विपत्ति का प्रकरण तो आवश्यकीय माना गया है।

अमरकोष की मान्यता है कि 'प्रबन्ध-कल्पना' ही कथा होती है। साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ कविराज गद्य-काव्य के उस प्रभेद को मान्यता देते हैं, जिसमें इतिवृत्त की रचना सरस होती है। महामना आनन्दवर्द्धनाचार्य कथा के विषय में यह विचार रखते हैं कि गद्यात्मक संगठित रचना की प्रचुरता होने पर भी उसकी बन्धवृत्ति सरस और समीचीन होनी चाहिए। आचार्य विश्वनाथ कविराज कादम्बरी को कथा और हर्षचरित को आख्यायिका की संज्ञा देते हैं।

कथा सम्बन्धी पुरातन आख्यायिकाओं से विदित होता है कि कहानी के लिए जिन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है वे हैं, गाथा, आख्यान, वृत्तांत। 'गाथा' शब्द तो कथा के अर्थ में। अन्तर केवल इतना है कि संस्कार की दृष्टि से 'गाथा' शब्द से किसी पुरानी और अपेक्षाकृत लम्बी कथा का भास होता है। 'आख्यान' शब्द तो नासिकेतोपाख्यान के साथ जुड़ा ही है और 'वृत्तांत' शब्द का अर्थ होता है किसी वृत्त का अंश। 'वृत्त' शब्द से अभिप्राय उस विवरण से है जो किसी कार्य के सम्बन्ध

त गया हो। प्रायः 'वृत्त' शब्द का प्रयोग जीवन के साथ होता है
जीवन वृत्त, हालचाल और समाचार के अर्थ में वृत्त शब्द लोक
द भी जोड़ दिया जाता है और तभी वह लोक-वृत्त हो जाता है।
यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि हमारे पुरातन आचार्यों ने
सम्बन्धी उपर्युक्त पर्यायवाची जिन शब्दों का प्रयोग किया है,
साथ आज की कहानी का निकट संबंध वास्तव में स्थापित नहीं
ता। यथार्थ में आज की कहानी प्राचीन रूपों, प्रकारों और शैलियों
किसी प्रकार की अनुभूति तक नहीं पाती। कहानी के प्राचीन रूपों
प्रकारों से सर्वथा भिन्न करके खड़ी बोली के गद्य में जो प्रयोग
गए, उनमें उल्लेखनीय प्रथम सफलता प्रेमचन्द जी को ही
। इसलिए उन्हीं को हिन्दी कहानी का जनक माना जाता है। इस
में प्रेमचन्द जी ने लिखा है "⋯⋯आज कला आख्यायिका का
त व्यापक हो गया है, उसमें प्रेम की कहानियाँ, जासूसी किस्से,
वृत्तान्त, अद्भुत घटना, विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रों की
भी शामिल कर दी जाती है। कहानी-रचना के जिन रूपों,
और धर्मों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है, उस सीमा में आज
नी आ नहीं पाती। हितोपदेश और पंचतंत्रों के कथा प्रसंग
की कलात्मक प्रवृत्ति के साथ रचनात्मक आत्मीयता उनसे
नहीं होती। पुरातन कहानी में जिस किसी घटना का वर्णन
वह सर्वथा उद्देश्य-परक प्रतीत होती है और कभी-कभी तो
कहता है कि केवल एक नीति निर्देशन के लिए या विचार या
प्रतिपादन के लिए यह कथा गढ़ ली गई है। इसके मूल में
किसी विशिष्ट आन्तरिक पक्ष का स्वाभाविक स्फुरण नहीं
ता। दशकुमारचरित में भी आख्यान की जिस पद्धति का
किया गया है, वह अलंकार के उल्लेख या निर्देशन की विशेष

कथा-वीथी

उपयुक्त जान पड़ती है । इससे यह ध्वनि निकलती है कि वह कल्पित
की एक विशेष शक्ति है ।

यहाँ अनायास एक बात का ध्यान हो आता । जिस समय प्रेम
जी ने पुरातन कहानी की पिटी-पिटी परिपाटी के प्रतिकूल एल्टन चे
मोपासा, तथा ओ हेनरी, गोर्की, बाल्ज़ाक आदि विशिष्ट कहानी लें
को सामने रखकर हिन्दी कहानी के नए-नए प्रयोग किए, उस समय
बंगला साहित्य में रवीन्द्र नाथ ठाकुर और शरदचन्द्र की कला
कहानियाँ हिन्दी में अनूदित होकर प्रकाश पा चुकी थीं । प्रेमचन्द
के सामने विश्व साहित्य की कहानी का जो समुज्ज्वल रूप था वह उ
ध्यान में अवश्य रहा होगा । इतना सब होने पर भी प्रेमचन्द जी
अपनी मौलिकता को सदा अक्षुण्ण रखा । उन्होंने न तो विदेशी कथा
की भावभूमि का आधार ग्रहण किया न बंगला के ही कथा वाङ्म
का । हिन्दी कहानी के इतिहास में उनकी यह चेतना बहुत गौरव
साथ स्मरण की जाती है ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रेमचन्द जी ने तब तक हिन्दी कथा के आँगन में प्रवेश नहीं किया था,
समय ऐसा नहीं है कि कथा के क्षेत्र में प्रतिभाओं का सर्वथा अभाव र
हो । तत्कालीन कहानी के क्षेत्र में जिन लोगों का कृतित्व ऐतिहासिक दृ
से स्मरणीय माना जाता है, उनमें लल्लूलाल, सदल मिश्र, इन्शाअल्ला
तथा पं० किशोरी लाल गोस्वामी प्रमुख हैं। किन्तु में उस
की कहानी एक प्रकार से कल्पना-बिहार मात्र थी । न तो चरित्र के उन्मे
की ओर इन लेखकों का ध्यान था, न मनोविश्लेषण के माध्यम से मान
चरित्र की व्याख्या का । इसीलिए उस युग की कहानियों में उन्हीं कल
नाओं को प्रश्रय मिला, जो कुतूहल की सृष्टि तो करती थीं, किन्तु साम

जिक सयोजना का कोई मर्म ग्रहण करने में प्रायः असमर्थ थी। उनकी प्रेरणा का स्रोत निम्न प्रकार का मनोरंजन था। फलतः रानी केतकी की कहानी, इन्दुमती, आपत्तियों का पर्वत आदि कहानियों में घटनाचक्र को ही कुतूहल और दुविधा को ही मुख्य हेतु मान लिया गया। इन कहानियों में न तो कोई रचनात्मक सौष्ठव है न सामाजिक पृष्ठभूमि से उभरकर आया हुआ कोई विचारणीय मन्तव्य। जान पड़ता है, इन कृतिकारों के अंतश्चेतना के मूल में संस्कृत काव्यों की इतिवृत्तात्मक परम्परा, उर्दू अफसानों की सस्ती चपलता आदि नगण्य और सारहीन तत्वों से ही कहानी के सामान्य शिल्प का उद्घाटन हुआ। उसके बाद जब भारतेन्दु युग आया तब वस्तु और अभिव्यंजना में किंचित परिवर्तन लक्षित हुआ। पर उनमें भी इस बात की सतर्कता और सचेतना का अभाव हमें मिलता है कि हम कहानी कह रहे हैं, या निबंध पाठ कर रहे हैं। कदाचित् इसीलिए भारतेन्दु जी की एक कहानी को कथात्मक निबंध के रूप में स्वीकृति मिली। कहानी का नाम है 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' और रचनाकार हैं डा० शितिकंठ मिश्र। लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' का रचना काल संभवतः १८०३ से १८०९ के बीच का है। उसमें जो रचना-प्रक्रिया है उसका आयाम बड़ा ही स्थूल है। उसकी अभिव्यंजना में पौराणिक परम्परा के शिल्प की स्पष्ट छाप है। यही कारण है कि उसमें वह रचनात्मक सौष्ठव नहीं है जिसकी आशा आज का कथाकार करता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "वह काव्याभास का गद्य है।"

सदल मिश्र ने संस्कृत से नचिकेता की जो कथा ग्रहण की उसमे घटना का इतिवृत्तात्मक रूप ही केवल मिलता है। इस कृति में भी पौराणिक शिल्प ही दृष्टिगत होता है। इस कहानी मे केवल कुतूहल की ओर ध्यान रखा गया है। राजा रघु की पुत्री चन्द्रावती गंगा तट पर सैर

करने के लिए अपनी सखियों के साथ आती है। वहाँ कमल पर उसकी दृष्टि जा पड़ती है। सखी से वह पुष्प मंगवा कर ज्यों ही सूंघ लेती है त्यों ही पुष्प का बीजांश उसके नाक के छिद्र से पेट में चला जाता है। फल यह होता है कि वह कालांतर में गर्भवती होकर माता-पिता के अपमान और तिरस्कार की भागिनी बनती है। तदनन्तर अन्य उपाय न देख चन्द्रावती एक वन में जाकर किसी ऋषि का आश्रय ग्रहण करती है। वहीं पर उसके पुत्र उत्पन्न होता है। जन्म का आदि सम्बन्ध नाक से होने के कारण उसका नाम नासिकेत पड़ जाता है। इस घटना का चन्द्रावती पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह स्वयं यह समझ लेती है, इससे तो कहीं अच्छा था कि मैं यहाँ न आती। मैंने इस प्रयोग से ऋषियों के तप की पवित्र भावना में व्याघात उत्पन्न किया है। फलतः उस बच्चे को घास-फूस में छिपा कर गंगा में प्रवाहित कर देती है। यह कथा बड़ी लम्बी है, हमने तो दृष्टांत रूप में उसके पूर्वार्द्ध का ही अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया है। इससे ध्वनित होता है कि पुरातन कहानी में सम्पूर्ण दृष्टि केवल मनोरंजन पर रहा करती थी। जान पड़ता है उस युग में केवल कुतूहल, दुविधा और विस्मय की संयोजना ही, कहानी-कला का मुख्य अंग मानी जाती थी। किन्तु इस दृष्टि से भी सबसे अधिक आपत्ति-जनक तत्त्व कथानक की उस संयोजना का है, जिसकी सारी घटनाएँ अलौकिक, अमानवीय और अस्वाभाविक हैं। आधुनिक कहानीकार कथा की संयोजना में सहज मानव स्वभाव का ध्यान पहले रखता है। वह ऐसी कल्पना नहीं करता जिसकी सम्भावना दुष्कर है। किन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि इस कृति की कल्पना का समाज आज की भाँति विकसित नहीं था, जिस पर यह उपाख्यान निर्मित हुआ है।

सैयद इंशाअल्ला खाँ की "रानी केतकी की कहानी।"

कथा-वीथी

इस कहानी का कार्य-काल १८१० के निकट का माना जाता है। इस कृति में रचनात्मक शिल्प कुछ विकसित और उद्देश्य पौराणिक तथा धार्मिकता से बहुत कुछ निःसंग मिलता है। इस कहानी में संयोगात्मक कल्पनाओं का बाहुल्य है। इसमें पौराणिक भावनाओं का अवलम्बन शृङ्गारात्मक भावनाओं का अपेक्षाकृत स्वच्छंद संयोजन अधिक मिलता है। उनके वर्णन में जो अभिव्यक्ति है वह बहुत कुछ काव्यात्मक और विशेष रूप से अनुप्रास से युक्त है। इसकी शैली में आश्चर्य, कुतूहल और उस चमत्कार का बाहुल्य है, जो उस युग की रचना-प्रक्रिया में विशेष झलकता है। एक प्रकार से कृतिकार सामंतवादी विचारधारा से ही अधिक अनुप्राणित है।

भारतेन्दु जी के साथ जिस कथायुग का परिचय हमें मिला है उसमें पुरातन कहानी की परम्परा से थोड़ा ही पार्थक्य दृष्टिगत होता है। वह भी रचना-विधान के साथ उतना नहीं, जितना कहानी की सामाजिक पृष्ठभूमि का। यद्यपि आधुनिक कहानी कला के साथ उस युग की कहानी का कोई समन्वय स्थापित नहीं होता किन्तु, इतना तो मान ही लेना पड़ता है कि उस युग के समकालीन लेखकों ने सामाजिक जीवन की गतिविधियों पर दृष्टिपात किया है और उसकी सचेतना के साथ-साथ कहानी में उनका किंचित संकेत और स्पर्श भी दिया है। यद्यपि यह प्रयास नाम-मात्र है, सो भी सर्वत्र नहीं, किन्तु वह भविष्य के व्यापक परिवर्तन का आभास अवश्य देता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रेमचन्द जी के समकालीन लेखकों को जो क्षेत्र मिला उसमें सामाजिक समस्याओं के प्रति ध्यान बनाए रखने की भावना अवश्य थी।

इसका कारण है। उस समय जो आन्दोलन हुए, उनके मूल में सर्वाधिक प्रभाव आर्यसमाज के सुधारवादी दृष्टिकोण का था। फलतः बंगला साहित्य की कलाधर्मिता में रूढ़िवादी दृष्टिकोण के प्रति विद्रोह

सामाजिक सम्पर्कों के मनन्य के प्रति एक औदार्य की भावना हमें
ती है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ
संतों, दार्शनिकों और विचारकों के द्वारा जो धार्मिक और
ामिक आंदोलन हुए, भारतेन्दु युग का लेखक उनसे पूर्ण परिचित
कहा जाता है कि थियोसाफिकल सोसाइटी के उत्सवों में भी
ाजिक संचेतना का किंचित हाथ रहा है, किन्तु ध्यान से देखा जाय
ह चेतना सामाजिक समस्याओं के समाधान की ओर उन्मुख न
र दार्शनिक मात्र थी। सारी परिस्थितियाँ और तदनुरूप व्याख्यानों
तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के विवरणों के अवलोकन से यह विदित
है कि वह चेतना क्रांति सम्बन्धी उतनी नहीं थी, जितनी
रवादी आध्यात्मिक और मानवता से वास्तविक रूप से सम्बद्ध।
काल की कुछ कहानियाँ यदि प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों के
कार को अपनी चेतना किरणों से विदीर्ण करती हुई मिलती हैं तो उनके
में इन्हीं महात्माओं के उपदेशों और उनके आंदोलनों के प्रभावों
मुख्य आधार ध्वनित होता है।

उस युग के प्रमुख कहानी लेखक हैं—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र
', उसके बाद पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू
मुकुन्द गुप्त, किशोरीलाल गोस्वामी, पं० गिरजादत्त बाजपेयी,
ाक प्रसाद खत्री, पं० रामचन्द्र शुक्ल, एक बंग महिला, गिरजाकुमार
', जो पार्वतीनन्दन के नाम से भी लिखते थे, यशोदानन्दन अखौरी
सूर्यनारायण दीक्षित। इन लेखकों की कहानियों के प्रेरणा-स्रोत
ी इंशाअल्ला खाँ और सदलमिश्र और लल्लूलाल नहीं हैं। इसीलिये
लोगों की कहानियाँ पूर्व-लेखकों की कहानियों की उपेक्षा न
ल वातावरण में, बल्कि रचनाविधान में भी समधिक आगे बढ़ी
हैं। यद्यपि परिमाण की दृष्टि से उनकी संख्या बहुत अल्प है।

इस युग में जो इनी-गिनी कहानियाँ लिखी गयी, उनके अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनके लेखकों ने कथानक की वास्तविकता के सम्बन्ध मे कोई सुनिश्चित धारणा नहीं बनायी, कदाचित इसी कारण उस काल की कहानियों के कथानक केवल इतिवृत्तात्मक हैं। उनका मूल आधार है, घटनामूलक चमत्कार। 'प्लेग की चुड़ैल', लेखक भगवान दास, 'चन्द्रलोक की यात्रा', लेखक केशवप्रसाद सिंह, 'इन्दुमती' लेखक किशोरीलाल गोस्वामी, 'ग्यारह वर्ष का समय', लेखक रामचन्द्र शुक्ल—इन कहानियों को ध्यान मे रखकर यह भी कहा जाता है कि उनके लेखकों ने कथानक को कथासूत्र के अर्थ में स्वीकार कर लिया है। कथानक से रचनात्मक सौष्ठव को सर्वथा पृथक कर लेने की कोई समस्या इनके सामने थी ही नहीं। इसी कारण इन कहानियों में भावनात्मक प्रतिक्रियायें तो मिलती हैं, किन्तु उनसे किसी सामाजिक समस्या की ओर सहसा पाठक का ध्यान आकृष्ट नहीं होता। घटनाओं के क्रम में जो सूक्ष्म रचनात्मक कला कभी-कभी अत्यन्त प्राणमयता के साथ झलक उठती है, वह तत्व भी इन कहानियों की इतिवृत्तात्मक पद्धति मे विलय होता गया है। कुछ लोगों का तो यह भी कथन है कि इन कहानियों में कुछ मार्मिक स्थल ऐसे हैं जिन्हें यदि संवेदना के साथ उभारा गया होता तो आधुनिक कहानी कला के साथ उसका किंचित समन्वय स्थापित हो सकता था। सच पूछिये तो केवल वर्णनात्मक होने के कारण वह सम्भावना अपना कोई रूप ग्रहण नहीं कर सकी।

पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी की इन्दुमती नायिका की कल्पना मे उस युग की दृष्टि से एक नवीनता अवश्य मालूम देती है। इन्दुमती अपने पिता के साथ एक कुटिया मे किसी नगर या ग्राम में नहीं, वन-प्रान्त में रहती है। वह बाहर नहीं निकलती और किसी से मिलती भी

नहीं। संयोग से चार वर्ष की होते-होते उसकी माँ का देहान्त हो जाता है। वह वृक्षों, लता-पल्लवों, पशु-पक्षियों को देखकर कुछ भाव ग्रहण करती है, उसे सब-कुछ अलौकिक विदित होता है। किन्तु वह सांसारिक सुख से वंचित ही नहीं, अनभिज्ञ भी रहती है। अचानक एक दिन नदी के स्वच्छ जल में अपना बिम्ब देखकर उसे विस्मय होता है। वह सहसा अपने ही रूप पर मुग्ध हो उठती है, पर तभी उसके मन पर ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि नदी में उसे अपना मुख देखना सहन नहीं होता। एक दिन एक युवक उसे मिलता है, इंदुमती उसे देखती रह जाती है। युवक से उसकी कुछ बात होती है। और जैसा कि स्वाभाविक है, इन्दुमती उसे अपने साथ घर ले आती है, अपने तत्कालीन आचार-विचार के अनुसार उसके पिता उसे प्राणदण्ड देने के लिए तत्पर हो उठते हैं। पुत्री के अनुरोध पर उसे क्षमा तो कर देते हैं किन्तु वह युवक बन्दीगृह में भेज दिया जाता है। कालांतर में जब विदित होता है कि वह बन्दी युवक कोई साधारण जन नहीं, वरन् राजकुमार है, तब वही पिता इंदुमती का उसी के साथ विवाह कर देते हैं।

इस कहानी में सबसे अधिक चौंकाने वाली बात है इंदुमती का अपना स्वच्छन्द स्वभाव। सच पूछिए तो उसका तत्कालीन लक्षण, गुण और स्वभाव, कालीदास की शकुन्तला का स्मरण दिलाता है। वही भोलापन उसमें है और प्रथम दर्शन से वही मनोमुग्धकारी प्रतिक्रिया का प्रादुर्भाव। फिर जैसा कि सामन्त युगीन कथाओं में प्रायः होता है, कभी मनमुटाव हुआ, कभी युद्ध हुआ, और अन्त में नायक की विजय हुई अथवा किसी प्रसंग विशेष में इस बात का पता चल गया कि नायक व्यक्ति नहीं, कोई राजकुमार है। फलतः किंचित पश्चात्ताप और नवीन प्रेरणा के समावेश से वह नायिका नायक को समर्पित कर दी जाती है।

दूर तक विचार करने से कुछ बातें और प्रकट होती हैं। इन्दुमती

जिस युवक को सर्वप्रथम देखती है, वह अन्त में राजकुमार के रूप में प्रकट होता है, यह बात कथा भाग में पहले कहीं प्रकट नहीं होती। लेखक ने इसे जान-बूझ कर छिपा रखा है। रचना-विधान का यह लक्षण तत्कालीन हिन्दी कथा के सम्यक् विकास की ओर, गतिमान होने का परिचय देता है। क्योंकि विश्व-विश्रुत कथाकार ओ हेनेरी की कहानियों में भी यह गुण हमें मिलता है। इसके सिवा अन्य एक बात जो लेखक के पक्ष में आती है, वह है इन्दुमती का बहुत भोलापन। रीतिकाव्य के शब्दों में कहें तो यह वास्तव में किसी अज्ञात यौवना तरुणी का पावन चरित्र है।

उस समय के समाज, को दृष्टि में रखकर भी विचार किया जा सकता है। जब सभ्यता के चरण बहुत आगे नहीं बढ़ सके थे तब कोई युवती किसी युवक को अपने साथ घर तक—यहाँ तक कि पिता के समक्ष—कैसे ला सकी ? इसका अभिप्राय यह है कि गोस्वामी जी जिस युग में रहते थे उस युग के समाज के अनुरूप ही उन्होंने इन्दुमती के चरित्रात्मक स्वरूप की कल्पना देने की चेष्टा की है।

एक बात और है; और वह है नायक के सम्बंध में। नायक भी रोमांचक नहीं है। वह न तो इन्दुमती को अपना भेद बताता है और न बन्दी होने से पूर्व उसके पिता को। यह कल्पना अस्वाभाविक नहीं है, साथ ही इसमें नायक में जिस चरित्र की उद्‌भावना हमें मिलती है, वह बड़ा ही धैर्यवान्, सहनशील,वीर और आज के शब्दों में कहें तो प्रयोगवादी है। फिर इन्दुमती का विवाह अंत में जिस युवक से होता है, वह राजकुमार ही है, लेखक की इस कल्पना में भाग्यवादी दृष्टिकोण की स्पष्ट छाप है। साथ ही इतना और कहना पड़ेगा कि वह पिता जो अपनी कन्या को एक परपुरुष से थोड़ी देर के लिए सामान्य परिचय होने पर भी क्षमा नहीं करता, वह किस समाज का है और है तो किस काल

का है और बुद्धि-विवेक से अपनी पत्नी को विपत्ति से बचाता है। एक प्रकार से रूढ़िग्रस्त समाज का ही वह चित्रण होता है। सारी परिस्थितियों पर विचार करने पर अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इसका सामाजिक धरातल विसंगतियों से आच्छन्न है। अब यदि सौन्दर्य-बोध की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर इस कहानी के कलात्मक सौष्ठव पर विचार करें तो कुतूहल, प्रवृत्ति-निरूपण और संयोग-संयोजना के कतिपय ऐसे तत्त्व हमें मिलते हैं, जिनका परवर्ती आधुनिक कहानी के साथ थोड़ा-सा सम्बन्ध तो जुड़ जाता है, किन्तु जीवन सत्य और परस्पर विरोधी परिस्थितियों के बीच सूक्ष्म सम्बन्धों की जो कल्पना आधुनिक कहानी-कार करता है, वैसा कुछ आभास इस कहानी में हमें नहीं मिलता। परन्तु संयोग, घटनात्मक आकस्मिकता, किसी नीति एवं नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान रखने का परिणाम यह हुआ कि जिस कहानी को नैसर्गिक रूप से अग्रसर होना था, वह अस्वाभाविक संयोग के मोह में पड़ गई। जीवन सत्य के निरूपण और उद्घाटन में जिन सम्भव कल्पनाओं और घटनाओं का उन्मीलन होना था, वे संयोगात्मक आकस्मिकता, रहस्यात्मक परिणाम और घटना-चक्र के जाल में इस सीमा तक जा पड़ी कि कहानी के लिए चरित्र-चित्रण जैसी चिर आवश्यक विधा की ओर ध्यान ही नहीं गया। पर, फिर कालान्तर में इन अभावों और त्रुटियों की ओर आगे आनेवाली पीढ़ी का ध्यान धीरे-धीरे आकृष्ट होता गया।

यहाँ उस काल के दो कथाकारों की कहानियों पर सहसा ध्यान चला जाता है। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की एक कहानी है 'राजा भोज का सपना' और दूसरी बाबू बालमुकुन्द गुप्त की 'मेले का ऊँट'। 'राजा भोज का सपना' की कथा का प्रारम्भ सामन्तवादी परम्परा की भाँति उस महत्वाकांक्षा से होता है, जो अलौकिक है। इसमें कल्पना की

संयोजना अधिक है और वास्तविकता कम । इसका प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है—

"वह कौन-सा व्यक्ति है, जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप्त रही है। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने-चाँदी और रत्नों की खान से दूना।" यह अभिव्यक्ति उस परम्परा की द्योतक है जो राजाओं के कीर्तिगान के माध्यम से राजपंडितों, पुरोहितों और बन्दीजनों को पुरस्कार देने की प्रेरणा देती थी। फिर कथा तो प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु वास्तव में वह कथातत्व का कोई संकेत नहीं देती। दूसरी ओर वह कृति की भूमिका न होकर भी भूमिका जैसी जान पड़ती है। 'नमूना और दूना' जैसे अनुप्रास समन्वित गद्य की परिपाटी का अनुकरण इस कृति में कोई नवीनता का बोध नहीं देता। जो बात पात्रों के कार्यकारी विश्लेषण से ध्वनित होनी चाहिए, उसे परिचयात्मक ढंग से कहने में कोई सौन्दर्य नहीं। कहीं-कहीं सेवकों के माध्यम से ऐसे संवाद दिये गए हैं जिनसे राजा भोज अपनी प्रचलित कीर्ति में सही और वास्तविक प्रतीत होते हैं। किन्तु अन्ततोगत्वा यह कहानी जनता के किसी प्रतिनिधि की कहानी नहीं है। इसकी सामाजिकता में न तो कोई आन्तरिक द्वन्द्व है, न संवेदन के ऐसे स्थल हैं, जिससे मानवता का कोई विशेष मर्म उद्घाटित होता हो। फलतः कला की दृष्टि से इस कहानी में कोई स्पष्ट विकास नहीं झलकता।

'मेले का ऊँट' बाबू बालमुकुन्द गुप्त की एक ऐसी कहानी है जो राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की कहानी से किंचित भिन्न होकर भी संवेदनात्मक प्रभाव स्थापित करने में कुछ आगे बढ़ती जान पड़ती है। उसकी मुख्य विधा है व्यंग्य। इस में अनावश्यक विस्तार भी नहीं है।

इसकी शैली अपने आप में विशिष्ट और तत्कालीन गद्यात्मक प्रयो
में कुछ नवीन और चौंकाने वाली है। यथा—"भारत, मित्र संपादक
जीते रहो, दूध बताशे पीते रहो। भाग भेजी सो अच्छी थी। फि
वैसी ही भेजना। गत सप्ताह अपना चिट्ठा आपके पत्र में टटोलते
'शाहेन' मेले के लेख पर निगाह पड़ी। पढ़कर आपकी दृष्टि पर अ
सोस हुआ। पहली बार आपकी दृष्टि पर अफसोस हुआ था। भ
आपकी दृष्टि गिद्ध की सी होनी चाहिए।" इस कहानी में ऊँट का प्रति
पादन वास्तव में नहीं है। उसका नाम तो प्रतीक के रूप में लिया गया
है। इस प्रकार इस में पुरातन कहानी की रचना-प्रक्रिया का प्रभाव बहु
ही कम है। व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति इसकी अपेक्षाकृत सशक्त है

हिन्दी कथा साहित्य में श्री प्रेमचन्द जी के अवतरण होने से पू
कहानी लेखक सामाजिक समस्याओं के साथ तादात्म्य स्थापित करने की
ओर उन्मुख क्यों नहीं हुआ ? यह बात विचारणीय है। इसका एक कारण
यह हो सकता है कि १८५७ में विप्लव का प्रभाव इस प्रतिक्रिया के रूप
में हुआ कि तत्कालीन समाज का सामान्य व्यक्ति जीवन में शान्ति, सौम्य
सुविधा और विश्राम को अधिक महत्व देने लगा। यह स्वाभाविक भी
था। पहले की अपेक्षा शांति और व्यवस्था का नियमन कुछ अधिक हो
गया था, इसलिए मनुष्य की साधारण कल्पना में भोग-विलास और
मनोरंजनप्रधान साधनों की ओर ध्यान अधिक रहता था। प्रेमचन्द
जी के कथा लेखन का कार्यकाल भारत के जागरण का युग था।
गाँव-गाँव में ताल्लुकेदार और जमींदार रहकर अधिकार, शासन, शांति
और सुख का जो जीवन बिताते थे, उसमें सामान्य जनता प्रायः समस्त
और सचस्त रहती थी। एक सहृदय और अत्यन्त संवेदनशील महा
भाँति यदि प्रेमचन्द जी तत्कालीन जीवन की ओर अपनी

दृश्यात्मक अध्ययन न करते, साधारण मनुष्य के दुःख, दैन्य परवशता प्रमाद, रुदन, चीत्कार, क्षोभ और विद्रोह के धरातल से अपना प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित न करते तो वे भी अपने पूर्ववर्ती साहित्य से प्रभावित होते हुए उसी धारा में प्रवहमान होकर विलुप्त हो जाते। उनके साहित्य की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण देन यह है कि व्यक्ति और समाज के मानस लोक को निकट से अध्ययन करके अपनी कला के माध्यम से कहानी में अभिव्यक्त किया।

तुलनात्मक विवेचन

बहुधा यह सुनने में आता है कि कहानी उपन्यास का लघुरूप है। जन साधारण की बात तो दूर रही साहित्य-मनीषी भी सामान्य बोल-चाल में बिना सोचे-समझे सहज ही अपनी इस मान्यता का सदर्प उद्घोष कर बैठते हैं। वह यह कहने में संकोच नहीं करते कि कहानी और उपन्यास में काया के अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर नहीं है। मेरा कहना यह है कि जहाँ तक रूप और आकार का सम्बन्ध है, काया का अन्तर निश्चित रूप से है। किन्तु यदि हम प्रच्छन्न मन्तव्य के सचेतात्मक उद्घाटन और रहस्य-भेद की लीला को एक 'माया' शब्द में निहित मान लें तो हमको यह बतलाने में कोई आपत्ति न होगी कि कहानी और उपन्यास में काया के अन्तर की अपेक्षा 'माया' का अन्तर अवश्य है। उपन्यास और कहानी में कहानी के रूपात्मक अस्तित्व और अभिप्राय-मन्तव्य और उद्देश्य का तुलनात्मक विश्लेषण करने से अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कहानी, रूप, विधान, प्रकृति और शैलीगत कला में भी सर्वथा भिन्न है। अन्तर विस्तार में ही नहीं उसकी आत्मगत स्फुरणा में भी है, इसकीति में भी है, प्रकृति में भी है, लघुत्व तो उसका आनुसंगिक लक्षण है। अपनी एक व्याख्या में स्वयं प्रेमचन्द जी ने यह स्वीकार किया है··· "उपन्यास घटनाओं, पात्रों, चरित्रों का

समूह है, आख्यायिका केवल घटना है। अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामे से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लाएँ, चाहे जितने दृश्य दिखाएँ, चाहे जितने चरित्र रखें पर यह कोई आवश्यक नहीं कि वे सब घटनाएँ, चरित्र एक ही केन्द्र पर मिल जायँ। उनमें कितने चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं, पर इस आख्यायिका में बाहुल्य की गुंजाइश नहीं।"

ध्यान से देखें तो विदित होगा कि मौलिक अन्तर दोनों की पृथक्-पृथक् चेतना का है। उपन्यासकार निखिल समाज के साथ तादात्म्य स्थापित करके व्यक्ति-व्यक्ति के, घर-घर के, नाते-रिश्ते के, यहाँ तक कि दल और समाज के अपने-अपने दृष्टिकोण, उनके स्वतः निर्धारित जीवन *मूल्य, सामाजिक सम्पर्क और संघर्ष के जो चित्र अंकित करता है, उनमें* जीवन के व्यापक और विशाल, यथार्थमूलक प्रसंगों की एक उद्भावना होती है। मनुष्य की प्रकृति ही नहीं, उसकी चेतना के स्वर भी, मर्नो ग्रंथियों के जटिल रूप होते हैं। उपन्यासकार उनके चित्रण में दुष्परिणामों की जो कल्पना करता है उसमें वह स्वयं कहीं न कहीं हृदय के एकांत कोने में रोता भी है। नायक-जीवन का शौर्य, उत्पीड़न घुट-घुट कर, मिट-मिट कर, सब कुछ झेल कर, सहन कर भी छिपे जीवन-मार्गों का *संकेत देकर सफलता की ओर बढ़ने के जो संयोजन और संकेत-निर्देश* करता है, उसके चित्रण में वह कहीं-कहीं मुस्कराता भी है। पात्र के नव निर्माण को जब वह अग्रसर होता हुआ देखता है तो उसकी विजय में वह अपने सृजन की विजययात्रा का स्वप्न देखता है। सब मिलाकर अनु-कूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के पारस्परिक घात-प्रतिघात दिखला कर एक ओर वह मानवचरित्र का निरूपण करता है और बतलाता है कि यही संसार है, यही जीवन है। किन्तु कहानीकार तो जीवन का कोई एक अंग,

घटना के किसी एक दृश्य विशेष छिपे हुए मर्म का संकेत करता है। वहाँ उसकी संवेदना केन्द्रोन्मुखी होती है। केवल रूपसज्जा में ही नहीं, उसके स्वभाव, उद्देश्य और संस्कारगत उन्मेष में भी उसका कहानीपन घटना-वैविध्य की संयोजना से भिन्न होता है। रूप-विधान की संक्षिप्तता में जो कटाव और धार होती है, वह वस्तुत. एकान्विति की देन होती है। इसीलिए कहानी वस्तु का यथासंभव सत्वर समाहार उपस्थित कर देती है। कहानी में तथ्यात्मक निरूपण अनेक हो सकते हैं किन्तु उसका संवेदनात्मक सौष्ठव केन्द्रीय होता है। कहानी और नाटक मे न तो रूपात्मक समानता होती है न गुणात्मक। रूढ़ि के रूप मे देखें तो चरित्र-कथा और संवाद के जाने-माने अंगन्यास दोनो मे होते हैं। यही कारण है कि कथा को नाटक मे रूपान्तरित करना सरल होता है। कहा जाता है कि बड़ा नाटक प्रकृति से उपन्यास का भाई प्रतीत होता है। उसी प्रकार कहानी एकांकी नाटक की बहिन है। बात यह है कि दोनों में अन्तर आन्तरिक प्रकृति का है। उनके तत्वो मे सम्यक् सादृश्य भी कभी-कभी दृष्यगत होता है। रचनाकार जिस संवेदना को कहानी के माध्यम से केन्द्रोन्मुखी बना देता है एकांकी नाटककार भी उसी प्रभाव और लक्ष्य को देने में समर्थ होता है। किन्तु नाटक और कहानी की रचना-प्रक्रिया में कोई प्रत्यक्ष अनुकूलन नहीं लक्षित होता। नाटक मे अभिनय के माध्यम से जिस वातावरण की प्रतिष्ठा होती है, उसकी रस-निष्पत्ति मे निस्सदेह एक प्रभाव रहता है। वैसा प्रभाव केवल पढ़ लेने से पाठक पर बहुधा कम पड़ता है। बात यह है कि नाटक दृष्य-काव्य है और कहानी श्रव्य काव्य। उसकी रसानुभूति ही नही दृष्यात्मक प्रभविष्णुता भी दर्शक के मानसलोक पर जल्दी अंकित हो जाती है। किन्तु यहाँ यह भी कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि कहानी की संवेदनात्मक सूक्ष्मता अधिक व्यापक होती है। किन्तु नाटक का प्रमुख गुण नाटक का दृष्यात्मक रचना-कौशल होता

है। जब कि कहानीकार को मानसिक द्वन्द्व और अंतश्चेतना की ग्रन्थियों का स्पष्टीकरण करना पड़ता है। कहानी और रेखाचित्र में उतना अन्तर नहीं होता जितना नाटक और कहानी में। सामान्य रूप से बहुतेरे पाठक दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व निरूपण करने में बहुधा भ्रम पड़ जाते हैं। पर सूक्ष्म दृष्टि से जब हम दोनों के अन्तर का पर विचार करते हैं तो दोनों के रचना-विधान में एक स्पष्ट अन्तर सहज ही बोध हो जाता है। कभी-कभी कथा संग्रहों में श्रीमती महादेवी वर्मा का रेखाचित्र कहानी मानकर सम्मिलित कर दिया जाता है। पर यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक रेखाचित्र रचना-विधान के अनुसार वास्तव में कहानी हो। रेखा-चित्र में व्यक्ति बोलता है, वह अपनी रूप-सज्जा, अपने शील-स्वभाव अपने व्यक्तित्व का प्रभाव अधिक डालता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसकी सांगोपांग चरित्र-कल्पना में किसी घटना की प्रमुखता हो। जैसे कि कहानी में सर्वथा स्वाभाविक है। कहानी में मनुष्य स्वभाव की सामाजिक निष्ठा के साथ व्यक्तित्व की जो प्रतिष्ठा होती है, उसमें उसकी प्रतिक्रिया प्रमुख रूप से स्फूर्त रहा करती है। कहानी का यह लक्षण रेखा-चित्र में नहीं होता। रेखाचित्र मे व्यक्ति का कृतित्व केवल एक संभावना प्रकट करता है, जो मात्र एक अनुभास होता है। किन्तु कहानी में मानवीय चेतना का जो विस्फूर्तन घटित होता है वह रेखा-चित्र के लिए सम्भव नहीं है। रेखाचित्र के लिए घटना निषिद्ध है। विश्लेषणात्मक चित्र उसका शरीर ही नहीं आत्म-रूप भी है। आचार्य डा० नगेन्द्र ने इस विषय मे एक वाक्य बहुत ही मूल्यवान लिखा है "कहानी के लिए घटना का होना जरूरी नहीं है। पर रेखाचित्र के लिए उसका न होना जरूरी है।

पढ़ते-पढ़ते कहानी का स्मरण दिला देने वाली विधाएँ हैं, गद्य, गीत, गीति-काव्य, खण्ड काव्य तथा रिपोर्ताज़। प्रायः यही चार विधाएँ

। वास्तव में कहानी की मूल आत्मा के साथ इनमे से किसी विधा की
ोई समानता नहीं है। गद्य गीतों में कवि जो चित्र प्रस्तुत करता है,
र्वथा कल्पित और भावात्मक होता है। उसका आधार कवि की
गृत, स्वप्निल कल्पनाओं का स्फुरण होता है। उसमें रचनात्मक सवेग
प्रमुखता रहती है। कभी-कभी प्रभावात्मक अन्विति वैसी ही सूक्ष्म
ती है जैसी कहानी में। इसमे कोई संदेह नही, किन्तु इन गीतो की
ना में कोई रूपात्मक मूर्त-आकर्षण नही होता। कभी-कभी कल्पनाएँ
र्था अमूर्त होती हैं यथा कोई ध्वनि आ रही है, कहाँ से आ रही है,
सकी आ रही है। उस ध्वनि का आशय क्या है, कोई नही जानता,
ल कवि जानता है। केवल इतना जानता है कि कही कुछ है, ऐसा है
मन को मोहता, है। खींच कर अपने निकट लाता है, पकड़ लेता है,
ाँ तक कि हृदयंगम भी कर लेता है। किन्तु अपनी इस भावना की
णति को अपने ही तक सीमित रखता है, बतलाता नही है। छिपाकर
ने में उसे सुख मिलता है और स्पष्ट कर देने में लाज आती है। खंड-
प के मूल में कथा के तत्व रहते हैं, क्योंकि उसकी सरचना मे वस्तु की
ना करनी पड़ती है। पात्रों की कर्मधारा, उनके कथोपकथन, घटनाओं
समन्वय, अभीष्ट प्रभाव को एक लक्ष्य तक पहुँचा देता है। केवल
य की दृष्टि से वह कहानी को छूता है। रिपोर्ताज की विधा का
युद्धकाल मे हुआ था। सो भी पत्रकारो की तत्कालीन चेतना के
ार पर। रचनात्मक प्रणालियों की अनभिज्ञता ही उनकी इस प्रति-
सृजनात्मक चेष्टा का मूल आधार था। कहानी के साथ इस विधा
ोई तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि तत्कालीन रचना-धर्मिता की एक
अंतश्चेतना के अतिरिक्त रचना-प्रक्रिया का कोई उल्लेखनीय
व इसके लिए सुलभ नहीं हो सका।

कहानी का रूप-विधान

संवेदना—यहाँ यह बात कम विचारणीय नहीं है कि कहानी की आत्मा उसके वस्तु में नहीं संवेदना में है। प्रेमचन्द जी के युग में कथा साहित्य की जो श्रीवृद्धि हुई, उसके मूल में जो मान्यताएँ जन्मीं और बनीं, जिनका निर्माण और विकास हुआ, उनका वैधानिक स्वरूप बहुत कुछ शास्त्रीय था। किन्तु आज जो हम यह कहने और मानने में समर्थ हुए हैं, कि कहानी की प्राण-वत्ता में वस्तु का उतना महत्व नहीं है जितना संवेदना का। जीवन का सत्य अमिट और निश्चित है, चाहे वह संयोजनात्मक हो या विधिविहित, आकस्मिक हो अथवा प्रयत्नमूलक। कहानी की आत्मा का आधारभूत गुण वस्तु है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु पिछले साठ वर्ष की कहानी का क्रम-विकास यह बतलाता है कि इस मान्यता के मूल में एक निश्चित युग का शास्त्रीय रचना सम्बन्धी अनुदान है। एक ही पद्धति पर चलते-चलते जब हमारा मन यह अनुभव करने लगता है, कि अब इस पद्धति-निर्वाह में कोई नवीनता किंवा लावण्य नहीं रह गया, तब मन सहसा स्वतः विद्रोही बन जाता है। यह परिवर्तन विकास की आधार भूमि है। परन्तु कहानी की रीति-नीति पर जब हम विचार करने बैठते हैं तब-लेखन परम्परा के उन सोपानों की गरिमा को स्मरण किए बिना नहीं रहते, जिन्होंने हमको लक्ष्य तक पहुँचाने की दिनानुदिन नव-नव संप्रेरणाएँ दी हैं।

सबसे पहले हम इस बात पर क्यों न विचार कर लें, कि कहानी का शरीर किन अंगों के समायोजन से निर्मित होता है। इस दृष्टि से कथा के मैं घटना के अलौकिक किंवा विचित्र तत्व को उतना महत्व नहीं देता, जितना किसी पात्र के चारित्रात्मक उन्मेष को, इसलिए अगर हम यह मान लें कि कहानी के मूल में यदि किसी विशिष्ट चरित्र की उद्भावना

नहीं है तो वह कहानी रचना-विधान की दृष्टि भले ही परिपूर्ण हो, किन्तु स्थाई साहित्य की परिधि को छू नहीं पाएगी। घटनाचक्र की आधारभूमि तो अप्रत्याशित रहस्यमयता होती है। अर्थात् वह सम्भावना जिसकी हम पहले से आशा नहीं करते, इसीलिए वह चमत्कारपूर्ण भी होती है। किन्तु आश्चर्यात्मक रहस्योद्घाटन से पाठक का मनोरंजन चाहे जितना हो पर वह स्थाई साहित्य की प्राणवत्ता की कोटि मे नही आती। जो कला जीवनपरक होती है वही समाज के विकासशील बन्द और मन्द स्रोतों का मुँह खोलने मे समर्थ होती है। यह तो ठीक है कि रचना की रूपगत विशिष्टता का साहित्य के साथ जो सम्बन्ध होता है उसकी उपेक्षा हम नही कर सकते। पर इसमे भी कोई सदेह नही कि ताश के पत्तों का जो रहस्य, चमत्कार और आश्चर्य हमे प्राय. अभिभूत कर देता है, उसकी जादूगरी सम्पूर्ण जीवन की कर्मधारा को तद्वत् प्रभावित नही कर पाती। पग-पग पर मनुष्य जो भोगता और सहन करता है, उससे मुक्ति पाने का मार्ग वस्तुतः चमत्कारपरायण नही होता। उसमें तो प्रबुद्ध मानस की प्रेरणा, युक्ति-साधना की संयोजना ही सफलता को जन्म देती है। तात्पर्य यह है कि संयोगप्रधान, रहस्यमूलक और चमत्कारपूर्ण कहानी का जो युग था वह बहुत कुछ बीत चुका है। आज की कहानी के कथानक में चरित्र का मनोवैज्ञानिक आधार ही अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

हम पहले बतला आए हैं कि कहानी मे सवेदना के लिए बहुत बडा स्थान है। यह एक ऐसी रचनाप्रक्रिया है जिसमें हमारी चेतना उन सम्बन्धों और परिस्थितियों के साथ अपनी आतरिकता स्थापित करती है, जिसमें वस्तुओं के लक्षण-गुण की अपेक्षा जीवन-सत्य का आकलन और सामाजिक मूल्यों के विवेचन की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। भारतेन्दु-युग के कुछ कहानीकारों ने कतिपय कहानियो मे सवेदनात्मक

पुष्टि की ओर ध्यान अवश्य दिया। किन्तु वह व्यक्ति और समाज के आंतरिक संघर्ष की ओर अभिमुख नहीं हो सका। प्रेमचन्द जी ने हिन्दी को जो कहानियाँ दीं उनमें मुख्य रूप से इसी अभाव की पूर्ति लक्षित होती है।

कुतूहल और सस्पेंस.— कहानी में कुतूहल का उद्भव वास्तव में बहुत महत्व रखता है। यदि कहानी के प्रारंभ में दो-चार मिनट के बाद ही पाठक के मन में यह आतुरता उत्पन्न होगी कि देखें अब इसके आगे क्या है तो रचनात्मक सौष्ठव की दृष्टि से वह कृति केवल इतिवृत्तात्मक लक्षण में परिणमित हो जायगी। और यहाँ यह स्वीकार कर लेने में आपत्ति न होनी चाहिए कि जो भी वर्णन यदि जीवन की प्रच्छन्न अंतरंगता को स्पर्श नहीं करते, कहानी नहीं बन सकते। उन्हें तो विवरण की कोटि में ही रखा जाएगा।

चरित्र चित्रण —कथानक के बाद दूसरा आवश्यक तत्व है चरित्र चित्रण। यदि किसी प्रकार के व्यक्ति का चरित्र स्वाभाविक रूप से चित्रित किया जाय तो उसमें जिस गुण की प्रमुखता होगी वह सम्यक् असाधारण होने पर भी विश्वसनीय बन जायगा। जीवन के जो क्रिया-कलाप सहज और संभव होते हैं उनकी अभिव्यंजना में आकर्षण का एक ऐसा गुण आ जाता है जो संप्रेषणीयता के लिए आवश्यक है। चरित्र-चित्रण की प्रक्रिया यदि वर्णनात्मक होती है तो उसका प्रभाव कथोपकथन और मनोविश्लेषण की अपेक्षा प्रायः कम पड़ता है। सच पूछिए तो संपूर्ण चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आधारित हो कर ही पाठक के मन पर एक जीवंत प्रभाव उपस्थित करता है। प्राचीन कहानी में सजीवता और सप्राणता का अभाव दृष्टिगत होता है। उससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें अपेक्षित यथार्थ को उभारने वाली अंतर्दृष्टि थी

ही नहीं। इसीलिए अनेक प्रकार के चरित्रों के संघर्ष व्यापी जीवन की ओर उनकी वह दृष्टि नहीं गई जो सहज ही अनेक में एक को ग्रहण कर सकती है और लेखक में जब तक यह चेतना नहीं होती कि वह सहज ही साधारण में असाधारण और सामान्य में असामान्य चरित्र की विशेषता को ग्रहण कर सके, तब तक उसके चित्रण मे वह स्वाभाविक बल नहीं आता जो कलाकार की प्रतिभा का आधारभूत लक्षण है। यह तो ठीक है कि अद्भुत अलौकिक मूक और रहस्यात्मक व्यक्तियों के चरित्र सशक्त अभिव्यक्ति के माध्यम से समाधिक प्रभाव स्थापन में प्राय समर्थ होते हैं। किन्तु सभी मानव असामान्य नहीं होते और मानवीय संवेदना के जो स्रोत साधारण मानव को आकृष्ट करते हैं वही जन-साधारण के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होते हैं। जिन व्यक्तियों के व्यवहार अस्वाभाविक और विलक्षण होते हैं उनके चरित्र का विशिष्ट अध्ययन किए बिना रचना-प्रक्रिया का आधार नहीं बन पाते। बहुतेरे व्यक्तियो के कार्य-व्यवहार का सूक्ष्म अध्ययन सहज ही अपने आप मे एक चरि का निर्माण कर देता है। चरित्रों के गठन जिन तथ्यों के आधार पर होते हैं, उनमें मनोवैज्ञानिकता का आधार आवश्यक होता है। त्याग और सेवा उदारता और शौर्य यदि किसी चरित्र को महत्वपूर्ण बना सकते हैं तो त्य के प्रति निष्ठा ? कुत्सित जीवन व्यापारो के प्रति वितृष्णा और ष्णा तथा महत्वाकांक्षाओं की संपूर्ति में मर मिटने तक की शक्ति क्यो नहीं ना सकती ? एक भला आदमी सामाजिक सत्रास से ग्रस्त होकर स्वा- भाविक रूप से यदि धूर्त बन जाए और एक अत्यन्त नगण्य शुद्र व्यक्ति कास-पथ पर अग्रसर होते हुए एक साथ मानव की कोटि पा जाए इसमें आश्चर्य और विस्मय के लिए कोई स्थान नहीं है। स्थान तो ल इस बात के लिए है कि प्रकृति मे परिवर्तन-कार्य-पद्धति में विकास र अवसर आने पर क्रांतिकारी पदक्षेपों का उद्घाटन कृतिकार ने किया

किस प्रकार है ।

कहानी कला में सबसे अधिक प्रभावशाली प्रक्रिया में आन्तरि
द्वन्द्व और चरम कुतूहल की सृष्टि के लिए बहुत बड़ा स्थान माना जा
है । जिन अंगों से हम कहानी के शरीर का निर्माण करते हैं वे सामा
होते हुए भी अपनी-अपनी जगह विशिष्ट हैं । ऐसी भी कहानियाँ हैं
आदि से अंत तक चरित्र के पाठक उन्मेष में कहीं कोई बहुत अधि
आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती । लेकिन उनमें भी अन्तिम परिणति कुछ
कुछ विस्मय और अलौकिकता कोई चमत्कार या विलक्षणता अवश्
होती है । किन्तु वह विधा अब पुरानी पड़ गई है । आज की कहानी क
कुतूहल विस्फोटक न होकर एक सामान्य अंकुर होता है । ऐसा अंकुर
उगता तो इसी धरती में है पर जिसकी संभावना वट वृक्ष की सीना
छायामयी गरिमा तक आ पहुँचती है । संघर्ष और सघर्ष तथा आंतरि
द्वन्द्व केवल सामाजिक परिस्थिति का आकलन ही नहीं करता, केवल यह
नहीं बतलाता कि आज का व्यक्ति कैसे भयानक जाल में आ फंसा है
वरन् वह कहानी गत मनवीय सवेदना को अपेक्षाकृत तीव्र और गत्यात्मक
ही बनाती है । अभिधाप्रधान कथानकों की इसी वृत्तात्मकता में कुतूहल
और संघर्ष में न आंतरिकता मिलती है न गहनता । उनका निरूपण भी
स्थूल होता है । उनमें रसात्मकता का निश्चित समुदाय भी नहीं हो पाता ।
यद्यपि कुतूहल और द्वन्द्व से विलग रहकर भी कहानी, लेखन के प्रयास
हुए हैं । इनमें गिरजादत्त बाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी कहानी'
कुछ सार्थक बन सकी है, किन्तु उसमें अद्भुत रस का ही परिपाक हुआ
प्रतीत होता है ।

वातावरण—वातावरण से हमको निवासस्थान की रूपरेखा,
आवास की स्वच्छता सम्बन्धित कक्षों की सजावट, आँगन, छत, पास-पड़ोस
के निवासियों से व्यावहारिक वार्ताविनोद के प्रकार, इष्ट-मित्रों के वृन्द,

उनके सम्बन्धों के सम्पर्कात्मक आरोह-अवरोह का ज्ञान तो होता ही है, मानसिक स्थिति के निर्माण मे इनकी निकटता और आन्तरिकता होती है उसका भी अनुभव होता है। मनुष्य का रचनात्मक विकास और ह्रास बहुत कुछ उसके वातावरण की देन होती है। एक प्रकार से हम उसे संगीत की वह रुचिरता, तटस्थता और अपेक्षित-अनपेक्षित प्रभावात्मकता भी कह सकते हैं।

परन्तु कहानी मे जिस वातावरण की कल्पना की जाती है उसकी प्रभावात्मकता मे एक स्वर-एक अनगूँज भी होती है। कथानक के विकास में, और चरित्रों के मनोगत अभीष्ट लक्ष्य तक ले जाने मे वातावरण बहुत सजीवता और सप्राणता की आधारभूमि होती है। इस वातावरण का चित्रण दिनचर्या के बीच कानों में गूँजने वाले वार्ता-प्रसंग के स्वर होते हैं। घर में यदि कोई बिल्ली पली रहती है, जंजीर में बँधा कुत्ता भौंकता रहता है, तिखंडे की मुंडेर पर बैठा मोर बोलता रहता है, लान में दूर्वा-दल मुँह चुभन डाले कोई मृग-छौना विचरण करता है, कभी रेडियो के स्वर आते हैं और कभी कोई नेवला सामने पड़-कर सर् से निकल जाता है, कभी गृहस्वामी बालकनी मे खड़े होकर नौकर को बुलाते हैं और कभी गृहस्वामिनी नौकरानी को डाटती है। लड़की बाथरूम में जाकर कोई सिनेमा-गीत गुनगुनाती है और कभी प्रथम पत्नी का मातृविहीन पुत्र विमाता के तिरस्कार का भाजन बन कर घर के बाहर निकलता द्वार तक आता-जाता आँसू पोंछने लगता है। संक्षेप मे हम इतना ही कह सकते हैं कि संवेदना यदि कहानी की आत्मा है तो वातावरण उसका शरीर है।

ध्यान से देखें तो पुरातन कहानी मे वातावरण के लिये उतना स्थान नहीं था जितना आज की कहानी में बनता जा रहा है। नई

कहानी के क्षेत्र में जो वातावरण प्रधान कहानियाँ बहुचर्चित हुई हैं उनमें 'परिंदे', 'मिस पाल', तथा 'मलवे का मालिक' कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।

लेकिन ऐसा नहीं है कि पुरातन कहानी में वातावरण का ध्यान ही नहीं रखा गया। प्रेमचन्द जी की कहानियों में वातावरण को प्रमुखता भले ही दी गई हो किन्तु उसका अपेक्षित समाहार हमको 'बड़े घर की बेटी' में मिलता है। इसी प्रकार 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' 'रोज' 'मक्रील' आदि कहानियों का नाम लिया जा सकता है। कभी-कभी कुतूहल की संवृद्धि और चित्रण की सजीवता में भी वातावरण का प्रमुख हाथ रहता है। जैसे 'निंदिया लागी' तथा 'बन्द दराजों का साथ' नामक कहानी में।

प्रेमचन्द युग की कहानी की सबसे बड़ी विशेषता और अन्तरदृष्टि सर्वथा उद्देश्यपरक होती है। यद्यपि रूढ़ियों के परिपोषण में उद्देश्य की भावना कहानी के कलात्मक सौष्ठव को नष्ट कर देती है। किन्तु कला की दृष्टि से सफल कहानी वही मानी जाती है जिसमें उद्देश्य और अन्तरदृष्टि मूल में निहित तो रहता है पर वह बहुत स्पष्ट न होकर अधखुला रह जाता है। प्रेमचन्द युग की कुछ कहानियाँ इस प्रकार की हैं, जिनका उद्देश्य चरम बिंदु तक पहुँचे बिना पहले ही प्रकट हो जाता है।

यथार्थ और आदर्श —जीवन के उदात्त मूल्य क्या हैं। इसका निर्धारण करना बड़ा ही कठिन है। आदर्श की चेतना आत्मान्वेषण ही नहीं आत्मपरिष्कार में मिलती है। यथार्थ की चेतना में जीवन सौख्य के प्रति प्रलोभन, गौरव के प्रति अनुराग, वैभव के प्रति अदम्य लालसा एक प्रकार से आवश्यक मानी जाती है। परन्तु योग्य से योग्य व्यक्ति अधिकार की दृष्टि से अपनी रुचि के अनुरूप पद नहीं प्राप्त कर

कथा-वीथी

पाता और अपने से शिक्षा, योग्यता और प्रतिभा में हीन कोटि का व्यक्ति उच्च पद पर आसीन होकर उसे आदेश देने की पद-मर्यादा का सुख लूटता है। जीवन की यह विवशता, मन में जो कुण्ठा, हीन भावना और असंगति का प्रादुर्भाव करती है वह वास्तव में यथार्थ की देन होती है। मनुष्य जहाँ अपने किसी आत्मीय स्वजन को अवसर पर सहायता देने मे नहीं हिचकता, उसकी संकटापन्न परिस्थिति से मुक्ति दिलाने में आवश्यकतानुसार त्याग करके जब सुख-सतोष का अनुभव करता है तब आज की भाषा मे उसे हम भावुक भले ही कह लें किन्तु मानवता के विकास और उसकी पावन संरचना की दृष्टि से यह कार्य आदर्श-परक ही माना जायगा। मानव वास्तव मे है क्या, शरीर और मन की भूख का जीवन मे जो मूल्य है, उसको भूलकर जब हम कुछ ऐसे कार्य कर बैठते हैं जो व्यक्तिपरक आवश्यकताओं की उपेक्षा करते हुए जाते हैं, भावी समावनाओं पर दृष्टि नहीं रखते और काल्पनिक सौख्य में संतोष कर लेते हैं। तब हम बहुधा आदर्श का पालन तो करते हैं, किन्तु अवश्यम्भावी भावी जीवन की अकल्पित विसंगतियों और असफलताओं के दुर्निवार परिणामों की उपेक्षा कर बैठते हैं। इसीलिए प्रायः हम देखते हैं कि प्रबुद्ध मानव यथार्थवादी होता है और दुखी, संतप्त तथा असफल व्यक्ति आदर्शवादी होता है।

प्रेमचन्द जी ने अपने जीवनकाल मे कुछ ऐसे कार्य किए जो बहुत चौकाने वाले थे। एक व्यक्ति जिसके साथ उनका सामान्य परिचय था उनके पास आकर अपनी दयनीय स्थिति की व्यथा-कथा सुनाने लगा। उसने कहा मेरे कई लड़कियाँ हैं, बड़ी लड़की का विवाह मैंने तय तो कर दिया किन्तु मेरे पास धन का अभाव है। विवाह की तिथि निकट आती जा रही है और मैं इस चिन्ता मे घुल-घुल कर मरा जा रहा हूँ कि यह विवाह होगा कैसे। कभी-कभी तो यहाँ तक सोच लेता हूँ, आत्मघात

कथा-वीथी

१. मनोवैज्ञानिक कहानी—यथा, 'कांकड़ा का तेली' 'रोज' 'टैम्पिल स्केच' 'एक शराबी की आत्मकथा' 'अपना-अपना भाग्य'।

२. सामाजिक कहानी—यथा, 'पंच-परमेश्वर' 'गुण्डा' 'ताई'।

३. वातावरणप्रधान कहानी—यथा, 'शेरशाह का न्याय' 'सूखी लकड़ी' 'प्रियदर्शी'

४. आत्मकथात्मक कहानी-यथा, 'हार की जीत' 'खूनी' 'मुन्नू' 'अन्ना'।

५. चरित्रप्रधान कहानी-यथा, 'शरणागत' 'मिठाई वाला'।

६. ऐतिहासिक कहानी-यथा, 'ककड़ी की कीमत' 'आकाशदीप' 'रानी सारधा'।

७. पारिवारिक कहानी—यथा, 'बड़े घर की बेटी' 'सूरदास' 'प्रलोभन'।

८. घटनाप्रधान कहानी-यथा, 'विधवा' 'कानों में कंगना'।

९. पत्रात्मक कहानी-यथा, 'एक सप्ताह' 'सिम्नेलर'।

१०. भावात्मक कहानी-यथा, 'भूली बात' 'बिजली' 'अमर बल्लरी' 'अतःपुर का आरंभ' 'उसने कहा था'।

११. राजनीतिक कहानी—यथा, 'सत्याग्रह' 'पगोडा वृक्ष' 'उसकी मां'।

१२. हास्य व्यंग की कहानी—यथा, 'लबी दाढ़ी' 'बनारसी इक्का' 'दो बांके' 'जे बात की बात' 'जुए' 'फितने'।

१३. प्रतीकात्मक शैली—यथा 'चिड़ियाघर' 'खाली बोतल'।

कहानी के विभाजन का एक अन्य प्रकार भी है। सामान्य विभाजन तो केवल प्रारंभ मध्य और अंत में हो जाता है। इसी को ही उद्भव विकास और चरम परिणति कह सकते हैं। पहले उद्भव को

कथा-वीथी

विधि के आकलन किसी प्रकार के संशय अथवा असमंजस की भूमिका भी हो। दुनिया में इतनी क्षिप्र गति हो कि पाठक कहानी का परिणाम जानने के लिए व्याकुल हो उठे। किन्तु एक प्रतिबंध के साथ। मध्य में ऐसा कोई संकेत अथवा सदेह नहीं उत्पन्न होना चाहिए जिससे चरम परिणति के प्रस्तुतीकरण से पूर्व ही रहस्योद्घाटन हो जाए। यथा—

१. लक्ष्मीकांत यही सोच रहा था, बैठा रहूँ कि पेट में दर्द होने का बहाना करके प्रीतिभोज की इस पंक्ति से बाहर चला जाऊँ। बहुत लोग मेरे पास बैठे बंधु-बांधव मुझसे अप्रसन्न हो जाएँगे। बुरा भला कह लेंगे। पर मैं यह सहन नहीं कर सकता कि दादा अभी तक यही कहते जो रहे थे, कि मैंने कुछ तय नहीं किया और इस सम्बंध में जीवन भर अपना मुँह नहीं खोलूँगा।

अंत की स्थिति सुकुमार होते हुए भी बड़ी प्रभावशाली विस्फोटक ज्वलनशील और समाधानकारी होती है। यही वह सकीर्ण गली है जिस पर चलते हुए बड़े-बड़े लेखक आगे पैर धरने में गिर पड़ते हैं। मनुष्य जब जीवनांत के क्षणों में प्रवेश करता है तब कभी-कभी उसका स्वर शांत, विरक्त हो जाता है। वह निश्चित होता है और जैसे उसी पल के लिए आरक्षित रहता है। यदि कहानी कहीं घटनात्मक हुई तब तो इस मानव सृष्टि में निहित अत्यंत कटु और कठोर व्यंग की क्रूरलीला देखकर भीतर ही भीतर तिलमिला उठता है। दूसरे ढंग से तीसरे ढंग से हम कहानी को पात्र, कथानक और दृश्य इन तीन भागों में भी विभक्त पाते हैं। कथानक को सामान्य रूप से वस्तु ही कहते हैं। कहीं-कहीं तो कथावस्तु का भी प्रयोग होता है। स्थूल रूप से तो हम वृत्त भी कह सकते हैं। इसका कारण है। वस्तु रूढ़ि अर्थ में पदार्थ के लिए प्रयुक्त होता है और अपूर्ण सत्ताओं को छोड़ कर शेष जो कुछ भी पूर्ण

कथा-वीथी

है, वह सामान्य और भौतिक अर्थ में पदार्थ है। यद्यपि पदार्थ शब्द का प्रयोग प्रायः निर्जीव वस्तुओं के लिए ही होता है। कोई भी क्रिया हो मानस जगत में हो अथवा भौतिक जगत में संवेदनाओं और मनोवेगों की सृष्टि करके मन के भीतर एक प्रकार का आनन्द-पुलक सचार करने में समर्थ हो। उसकी परिणति विस्मय मे हो अथवा आघात में, घटना होती है और घटना की मूल आत्मा को हम कथानक की संज्ञा देते हैं। घटनाएँ स्थूल जगत में वस्तुपरक होती है, किन्तु कहानी में मानस लोक में घटित अथवा अन्तर्द्वंद्व में निहित संवेदना की सृष्टि से भी होती है। कहानी में घटनाओं की सयोजना जब कल्पना के माध्यम से होती है तभी कलात्मक दृष्टि से उसे सृष्टि कहते हैं। संयोजन के मूल आधारों में पात्रों की गत्यात्मक क्रिया-कलाप का रूप दृष्यमय होता है। ध्यान से देखें तो कहानी में कथानक की स्थिति प्राण जैसी है और कर्म-व्यापार का आधार पात्र होते हैं। उनकी रूपात्मक सत्ता को हम दृष्य कहते हैं। पुरानी कहानी की मान्यता के अनुसार सशक्त कथानक ही उसे सप्राण और सजीव बनाता है। पात्र और दृष्य के साथ कथानक का सम्बन्ध अनिवार्य होता है।

कथानक को भी हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। यथा, घटना प्रधान, भाव प्रधान, चरित्र प्रधान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रधान। घटना प्रधान कहानी में विस्मय की सृष्टि आवश्यक होती है। उसमें कार्यकारण के सम्बन्ध का आकलन आकस्मिक प्रतीत होता है। ऐसी कहानियों में जासूसी कहानियों की भी परिगणना की जाती है। भाव प्रधान कहानी में घटना के विकास पर सम्यक् ध्यान दिया जाता है न कि चरित्र पर। उसकी सयोजना भावुकता पर निर्भर होती है जो सांसारिक तो होती ही है आध्यात्मिक भी हो सकती है। चरित्र प्रधान कहानी में मनुष्य के स्वाभाविक विकास में कर्म-निष्ठा पर विशेष

बल दिया जाता है। वह जीवन सत्य के प्रति भी हो सकती है और अनैतिक उद्देश्य सिद्धि के संवेग में भी संभव है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रधान कहानी मे चिंतन प्रक्रिया का वर्णन दृश्यात्मक कार्य-कलाप की संयोजना अपेक्षाकृत सूक्ष्म और गंभीर होती है। उसके संवाद छोटे और अर्थ गाम्भीर्य रूप मे अग्रसर रहते हैं। घटनात्मक कहानी का सारा कार्य-व्यापार पात्रों की कर्मेन्द्रियों से होता है। किन्तु भावात्मक और चरित्रात्मक कहानी मे सारी प्रक्रिया मानसिक उद्वेलन में नियोजित रहती है। एक व्यक्ति जब दूसरे से मिलकर हाथ मिलाता है तब उसे कुछ न कुछ कहना ही पडता है। आगे चलकर दोनों विचार-विनिमय मे लीन हो जाते हैं। कभी-कभी भेंट-वार्ताओं मे कई लोग सम्मिलित हो जाते हैं। वे जो कुछ कहते हैं, कहानी मे उसे कथोपकथन मानते हैं। ऐसी भी कहानियाँ लिखी जाती हैं जिनमे कथोपकथन का नितांत अभाव होता है। उसमें कोई नहीं बोलता तो केवल लेखक बोलता है। आत्मस्वर के प्रकार मे कहानी का उद्भव और विकास सम्पन्न हो जाता है। मूक दृश्यों के वर्णन की कहानी इतिवृत्तात्मक होती है। पर उसमे नाटकीय परिस्थिति की संयोजना दुष्कर होती है। उसमे जीवन व्यापी कोई मनोवेग पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं कर पाता। बहुधा कहानी अंतश्चेतना प्रकट करती हुई भी वह संवेदन नही उत्पन्न कर पाती जो उसकी मूल आत्मा होती है।

कहानी के इस शिल्प विधान में अब कुछ पुरानापन आ गया है। उसकी एक रूढ़ि बन चुकी है। क्योकि वास्तव में कहानी का शरीर ही शिल्प प्रतीत होता है, उसका प्राण है संवेदन। यह सब आज स्पष्ट रूप से कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ गई कि कहानी का जन्म पहले हो गया। उसके उद्भव और विकास उसकी गत्यात्मक प्रणाली के मूल स्रोत, उसका जीवन-व्यापारों के साथ आत्मीय सम्बन्ध की महत्ता, उसके

अन्दर मानवात्मा की स्वर गर्जना, पर समीक्षा और परिचर्चा की स्थिति कालांतर में आई। जब विविध प्रकार की कहानियों ने जन्म ले लिया तभी उसकी शास्त्रीय विधाओं ने निश्चयात्मक रूप धारण किया। आज हिन्दी में विशेष रूप से नई पीढ़ी के लेखकों ने अनेक ऐसी सशक्त कहानियों की सृष्टि की है, जिनकी शिल्पविधानात्मक स्थिति भले ही दुर्बल हो किन्तु उनकी संवेदनात्मक प्राणवत्ता असंदिग्ध है।

हिन्दी की मौलिक कहानी का इतिहास अभी केवल साठ-पैंसठ वर्ष का हो पाया है। पहले तो कई मास तक सरस्वती में अंग्रेजी के अमर कवि शेक्सपियर के कतिपय विशिष्ट नाटकों का भावानुवाद प्रकाशित होता रहा। इनकी देखादेखी मे संस्कृत के नाटकों के अनुवाद उसमें प्रकाशित हुए, पर यह देखकर हिन्दी जगत मे एक कोलाहल उपस्थित हो गया। इन अंग्रेजी और संस्कृत नाटकों के अनुवाद नाटक रूप में न होकर कहानी मे हुए। अंग्रेजी के जिन नाटकों के कहानी रूपांतर प्रस्तुत किये गए वे थे, 'कमेडी आफ एररस्' 'टाइमन आफ एथेन्स' तथा 'सिबंलिन'। संस्कृत के ये रत्नावली मालविकाग्नि मित्र, फिर बाणकृत कादम्बरी का अनुवाद भी एक छोटे से उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुआ। बहुतों का मत है कि हिन्दी की पहली मौलिक कहानी इन्दुमती है। किसी-किसी का यह भी कथन है कि यह कहानी टेम्पेस्ट से प्रभावित है जिसका आधार एक सामंतयुगीन कथा है जिसके वातावरण की संयोजना लेखक ने अपने बचाव के हेतु भारतीय कर दी है।

जिस समय (जून सन् १९०९) में यह कहानी प्रकाशित हुई। स्वर्गीय गोस्वामी जी ने इसकी कल्पना भी न की होगी जब उनकी यही कहानी एक दिन मौलिक कहानी के रूप में प्रचार पा जाएगी।

ध्यान से देखा जाए तो सन् १९०० से १९१० तक का समय हिन्दी

कहानी के उद्भव के लिए नव-नव प्रयोगों का था। कहानी लेखन का कोई निश्चित रचना-विधान न था। रूप और शैली के सम्बन्ध मे कोई ऐसे आदर्श भी समक्ष न थे जिनसे तत्कालीन कथाकार को अनुकरण की प्रेरणा प्राप्त का अवसर मिलता। किन्तु मिर्जापुर-निवासिनी एक बग महिला ने 'दुलाई वाली' कहानी लिखकर, हिन्दी साहित्य के पाठक समुदाय को चकित कर दिया। शिल्प की दृष्टि से यह कहानी बहुत कुछ सफल बन पड़ी है। अतः यदि हम भौतिकता के आधार पर पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी को हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी न मानकर 'दुलाई वाली' कहानी को मान्यता दे दें तो यह सर्वथा न्यायसंगत होगा। इसके बाद सन् १९११ में वाराणसी से प्रकाशित होने वाले 'इन्दु' नामक मासिक पत्र में कलाकार जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' नामक कहानी प्रकाशित हुई। इसी वर्ष श्री जी० पी० श्रीवास्तव तथा चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानियाँ 'इन्दु' एव कलकत्ते के 'भारत वर्ष' में प्रकाशित हुई थी। इसी वर्ष कहानी के क्षेत्र में स्व० प० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने कहानीकार के रूप में पदार्पण किया। दो वर्ष बाद सन् पन्द्रह में स्व० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने 'उसने कहा था' नामक अमर कहानी की सृष्टि की। फिर अगले ही वर्ष युग प्रवर्तक महा ना प्रेमचन्द जैसे कलाकार का उर्दू साहित्य से हिन्दी साहित्य में अवतरण हुआ। तदनंतर सन् १९२० में स्व० सुदर्शन जी ने हिन्दी कथा के क्षेत्र में पदार्पण करके हिन्दी कहानी की 'बाललीला' में सम्मिलित होने का गौरव प्राप्त किया।

इस प्रकार सन् १९०० से १९२० का युग वस्तुत. हिन्दी कहानी के मौलिक स्वरूप का जनक माना जाता है।

हिन्दी कहानी के इस प्रारम्भिक युग मे आदर्शवादी कहानियाँ ही अधिक लिखी गई। इस युग का कथा साहित्य मुख्य रूप से सुधारवादी

था। उसने नैतिक मूल्यो के समर्थन में ऐसी कथाकृतियों की सर्जना की जिनमें गृहस्थ जीवन के चित्रण में आदर्शोन्मुख और नीतिपरक भावना का बाहुल्य था। इसमें संदेह नहीं कि इस क्रम विकास में सामाजिक और राजनीतिक हलचलों पर भी थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ा। नैतिक अनुशासन की कठोरता के प्रति पीड़ित मानवता का विद्रोह उसका मौलिक अभिप्राय नही था। इस समाज को सुधारना भर आवश्यक है। इसमें क्रांति उत्पन्न करके इसे सर्वथा बदल देना कृतिकार का अभिप्राय न था। इस युग का कृतिकार जनता को अधोगति से बचाना तो चाहता था लेकिन नैतिकता के कठोर सार को कहीं शिथिल और सरल बनाने में उसे कुछ भय सा प्रतीत होता था। किन्तु पाश्चात्य कथा-साहित्य के अनुकरण में नैतिक मान्यताओं के सम्यक् समर्थन में प्रेमतत्व, अवलम्ब आवश्यक हो गया था। कतिपय कहानियाँ ऐतिहासिक भूमि के आधार पर लिखी गईं। जिनमें जातीय गौरव की स्थापना का ध्यान रखा गया। समाज-सुधार के समायोजन में समाजवादी वैचारिक दर्शन का भी अंकुर फूटता दृष्टिगत होता है। उस काल के कथा साहित्य में जो रचनात्मक कला-सौष्ठव उत्पन्न हुआ। उसके प्रेरणास्रोत सुनिश्चित रूप से प्रेमचन्द माने जाते हैं।

नवीन कथा-शिल्प

संपूर्ण कथा साहित्य को जब हम पुरातन आधुनिक और अति आधुनिक धाराओं के सम्बन्ध में देखते हैं तब सबसे पहले विचारणीय यह हो जाता है, कि प्रेमचन्द से पूर्व जो कहानियाँ लिखी गयीं क्या वे सब कहानियाँ आधुनिक कहानी कला के परिवेश में स्मरण की जा सकती हैं? तत्काल निर्विवाद रूप से हमें उत्तर मिलेगा, नहीं। अब प्रेमचन्द युग की कहानियों की रचना-प्रक्रिया तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों और

जीवन मूल्यों के उद्घाटन की ओर ध्यान देने पर फिर से ऐसा यह प्रश्न उठता है कि आज की कहानी में जो परिवर्तन आया है। वह ऐतिहासिक क्रम-विकास की दृष्टि से ही अनिवार्य था या उसके मूल में किसी आकस्मिक युग परिवर्तन का मोड़ है । तब सहसा उत्तर मिलता है, कि नई कहानी के शुभारंभ की पृष्ठभूमि मे भारतीय स्वाधीनता का उदय और तदनुरूप बदलते हुए जीवन-मूल्यों का स्वाभाविक युग-बोध ।

किन्तु इस स्थल पर सबसे अधिक विचारणीय यह है कि आज नई कहानी मे जो विशेष गुण लक्षित हुये हैं, क्या वे सर्वथा नए हैं ? और प्रेमचन्द युगीन कथाकारों की दृष्टि ही उन पर नहीं गई ? कहा जाता है, कि आज की कहानी मे कथानक का सर्वथा ह्रास हो गया है, किन्तु यह लाछन अकेला आज की हिन्दी कहानी पर पूर्णतया लग नहीं पाता । आँख खोल कर देखें तो हमें प्रतीत होगा कि इस समय तो ससार की सभी भाषाओं के कथा-साहित्य की यही स्थिति है । जहां तक हिन्दी कथा का सम्बन्ध है, यह परिवर्तन नया नहीं है । आज का कथानक जिसको कथ्य कहता है, प्रेमचन्द युग मे हिन्दी कथा मे वह वैचारिक भूमि बन चुकी थी । जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और इलाचन्द्र जोशी की अनेक कहानियाँ आत्मविश्लेषण पद्धति मे कुछ इस प्रकार प्रकट हुई, जिनमे कथा की अपेक्षा वैचारिक आग्रह विशेष था । आज की कहानी मे जिस दुरूहता का उपालम्भ देखने मे आता है, क्या उसका श्रीगणेश प्रेमचन्द युग के उपर्युक्त कृतिकारो की कहानियों मे लक्षित नहीं होता ? आत्मपरक होने के कारण उन कहानियों मे—सामाजिक जीवन के साथ जिस तादात्म्य की हम आशा कर सकते थे, आत्मपरक होने के कारण उसकी सपूर्ति कैसे सम्भव हो सकती थी ? इसमें सदेह नहीं कि उस युग मे मनोविश्लेषण प्रधान कहानियो का अच्छा स्वागत हुआ, किन्तु समाज के किसी प्रतिनिधि का मनोविश्लेषण कहानी में यदि आवश्यक भी हो

तो फिर हमें यह सोचना पड़ेगा, कि व्यक्तिवादी साहित्य में मनोविश्लेषण की क्या उपयोगिता है? प्रेमचन्द पूर्व युग की कथाभूमि में जो प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से पनपती रहीं, उसी के अनुरूप प्रेमचन्द काल में भी वैचारिक पृष्ठभूमि से आत्मपरक कथा-लेखन को क्यों प्रोत्साहन मिला? क्या केवल इसलिए नहीं कि रहस्य-रोमांच के इतिवृत्तात्मक कथा-लेखन की रूढ़ि बन चुकी थी, जिस प्रकार प्रेमचन्द जी के अनन्तर वह कथा-विधान अपने आप टूट गया उसी प्रकार प्रेमचन्द युग के कथा लेखकों की आदर्शवादी नैतिकतावादी, उपदेश प्रधान, सुधारमूलक कहानी लेखक की जो परिपाटी चल पड़ी, उसमें विपर्यय इसीलिए तो हुआ, कि तत्कालीन सजग कथाकार अपने लिए नया क्षेत्र, नयी भूमि ही नहीं नई कथा शैली का विशेष रूप से आग्रही था। यद्यपि इन मनोविश्लेषणात्मक कहानियों में संवेदनात्मक स्पष्टता और प्रभावहीन दुरूहता और कहीं-कहीं मूल कथा-सूत्रों में उलझाव अवश्य दिखलाई पड़ता है, किन्तु नवीनता का आग्रह आवश्यक ही नहीं स्वाभाविक भी था। इसीलिये प्रेमचन्दोत्तर युग की कथासृष्टि को संक्रांति युग की संज्ञा दी। प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों के जीवन-दर्शन पर जब हम विचार करते हैं तब हमको ऐसा प्रतीत होता है, कि उस समय केवल कथा-लेखन ही नहीं, सम्पूर्ण साहित्य-सृष्टि के मूल प्रेरणा-स्रोत नैतिकता, अहिंसा, बौद्धयुगीन करुणापरक संवेदना और मानवतावादी थे। अतएव नैतिक भाव-बोध का विशेष प्रभाव यदि तत्कालीन कथा साहित्य में मिलता है तो इसमें आश्चर्य नहीं, यह सर्वथा स्वाभाविक था।

पर, एक ओर जहाँ मनोविज्ञान के विश्लेषकों और विचारकों ने कलात्मक सरचना विधा को यह कह कर प्रभावित किया कि कला और धर्म दोनों का समुद्भव अचेतन मानस की चिर-संचित प्रेरणाओं और तरंगों से होता है और कलात्मक इच्छाओं के आधार पर ही कला

कृतियों का सृजन होता है। यही कारण है कि जैनेन्द्र और अज्ञेय की कतिपय रचनाओं में कहीं-कहीं जीवन के वासनात्मक पक्ष का समर्थन करने की चेष्टा हमें मिलती है और यशपाल की कलासृष्टि में दोनों का समन्वय, वहीं दूसरी ओर महामना मार्क्स ने बतलाया कि पदार्थ की सृष्टि प्रत्यय से न होकर, प्रत्यय की सृष्टि पदार्थ से होती है, सब कुछ बाहरी होता है, आन्तरिक कुछ नहीं।

पर, आज की कहानी में वस्तु का जो ह्रास देखने को मिलता है, उसके मूल कारण ये हैं—

अ. व्यञ्जना तथा सांकेतिकता के कारण प्रतीक योजना और बौद्धिक निरूपण। मोहन राकेश की 'जख्म' निर्मल वर्मा की 'दहलीज' कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' आदि कहानियाँ इसी स्थिति के उदाहरण हैं।

ब. वस्तु के ह्रास का दूसरा परिणाम है कथा-सूत्रों की शृंखला-हीनता। कृतिकार जिन सूत्रों को अनिवार्य समझता है, उन्हें एक सूत्र में केन्द्रित करने पर बल नहीं देता, वरन् उन्हीं के आधार पर चरित्रों का विश्लेषण करता और व्यक्तित्वमूलक प्रवृत्तियों की छाप छोड़ने का लक्ष्य मानकर उनको प्रतिष्ठाया देता है। नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत' कमलेश्वर की 'तलाश' आदि कहानियाँ इसका परिणाम कही जा सकती हैं।

स. पुरानी कहानी जहाँ से समाप्त होती है वहीं से आज की कहानी का आरम्भ होता है। इस परिपाटी का आरम्भ वास्तव में नई कहानी से नहीं हुआ क्योंकि, इसके मूल में प्रेमचन्द जी की 'कफन' और अज्ञेय जी की 'कोठरी की बात' आदि कहानियाँ सहज ही हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं।

इस प्रकार की कहानियों में दुरूहता और बौद्धिकता अपेक्षाकृत

भाषित होती है। राजेन्द्र यादव की 'एक कटी हुई कहानी' नरेश मेहता की 'चाँदनी' मोहन राकेश की 'सेफ्टीपिन' इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

द. वस्तु के जो गूढ़ पहलू प्रकट नहीं होते, और अस्पष्ट प्रतीत होते हैं वे अंतिम परिणति में आकर ही अपना रूप खड़ा कर पाते हैं। आज की कहानी में भी यह एक प्रवृत्ति बन गई है और वस्तु के इस ह्रास को प्रायः सभी नवीन कहानीकारों ने ग्रहण किया है। इस प्रकार की कहानियाँ अपनी शृंखला स्पष्ट होने नहीं देतीं। पात्रों की गत्यात्मकता शिथिल रहती है। पर, जब अंतिम परिणति की स्थिति आती है तब अनायास सारे रहस्यों का उद्घाटन हो जाता है। यह पद्धति भी नई नहीं है। प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों ने इस सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक प्रयोग किए हैं। इस प्रकार की कहानियाँ जैनेन्द्र, अज्ञेय और भगवती प्रसाद वाजपेयी, ने भी हिन्दी को दी हैं। पर, इस प्रविधि के जन्मदाता हैं ओ हेनरी। यह ऐसी विधा है जो विश्व के कथा-विधान में अब तक निरन्तर चल रहा है।

य. विचारों को एकाएक उत्तेजित करने वाली संलाप पद्धति। इसमें चिन्तन के नाना प्रकारों और सूत्रों को लेकर कथा को गति दी जाती है। इसमें भी वस्तु की ह्रास की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, पर इस प्रकार की कहानियों को पाठकवर्ग ने विशेष ग्रहण नहीं किया। धर्मवीर भारती की 'सावित्री नं० २' और नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत' इसी प्रकार की कहानी हैं।

इस प्रकार की सभी कहानियाँ फ्रायड के मनोविज्ञान, गाँधी के नैतिकवाद, मार्क्स के समाजवाद समर्थक पात्रों के द्वारा संयोजित और संप्रेषित होती हैं। नवीन कहानी में चरित्र-चित्रण की भी अपनी एक विधा है। इसमें मानसिक द्वन्द्व, आत्म-विश्लेषण, परिस्थितिजन्य जीवन व्यापारों के अध्ययन से चरित्रों का अध्ययन और अनुकूल-प्रतिकूल

परिस्थितियों से मेलते और जूझते हुए नायकों का द्वन्द्वात्मक जीवनसंघर्ष उद्घाटित किया जाता है। परन्तु, जिन कहानियों में कथानक परि-पुष्ट लिया जाता है, उनका गद्यात्मक गौरव पुरातन पद्धतियों के आधार पर ही आलोकित मिलता है। वे पद्धतियाँ हैं—नाटकीय उत्कर्ष, विश्लेषणात्मक अंतिम परिणति और अभिनयात्मक चित्रण। ये कहानियाँ भी दो भागों में बाँटी जा सकती हैं :—

१. चिंतन वह जिसमें कथाकार स्वयं सम्मिलित रहता है, वह समष्टिगत भी होता है।

२. चिंतन वह जो प्रायः व्यष्टिगत होता है। इसमें लेखकीय आन्तरिकता और अंतश्चेतना का प्राधान्य रहता है।

नई कहानी के लेखकों की संख्या तो अब सौ से ऊपर पहुँच चुकी है, किन्तु आज के परिवेश में जिन कथाकारों ने अपने कृतित्व के माध्यम से विशेष प्रतिभा प्रदर्शित की है, वे इस प्रकार हैं—धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी अमरकान्त, विमल वर्मा, मार्कण्डेय, रेणु, भीष्मसाहनी, उषा प्रियम्वदा सुरेश सिनहा, परमानन्द श्रीवास्तव, सुधा अरोड़ा, निर्मला वाजपेयी आदि।

नई कहानी की हिन्दी की जो सबसे बड़ी देन है, वह है उसकी जीवनसत्य के प्रति अनन्य आस्था। और प्रासंगिक निरूपण में जहाँ समाज बहुत आतंकित रहता था, आज नवीन कथा का निर्माता अपनी अभिव्यक्ति में इतना स्वच्छन्द, स्वतन्त्र और निर्भय है कि वह समाज की बात तो दूर रही, अपने घर और स्वयं अपने निजत्व की मानवीय दुर्बलता तक को स्वीकार करने में भी हिचकता नहीं। कल का कथाकार जहाँ जीवन सत्य के संदर्भ में अस्वीकृत से कंपित रह रह कर दयनीय स्थितियों

के साथ समझौता कर लेता था, वही आज का कथाकार अस्वीकृति
दबे, घिघियाते और रिरियाते हुए विवशता और हीनभावों से ग्र
भाषा में प्रकट करने के स्थान पर एक वीर पुरुष की भाँति उद्घोष क
के लिए तत्पर हो गया है। प्रतीकवाद, बिम्बवाद, वातावरण प्रधा
कहानी लेखन में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्र और नई विधा के अनुसंध
में पूर्णरूप से संलग्न और तत्पर प्रतीत होता है।

मेरी धारणा है कि यह स्थिति अब विवादग्रस्त नहीं रह गई
निश्चित रूप से नई कहानी पुरानी कहानी से आगे जा चुकी है। उसक
भविष्य अनन्त प्रेरणाओं और मधुर और महान आशाओं की नान
संभावनाओं से ओत-प्रोत है। स्तर में ही उन्नति नहीं हुई है, मात्रा औ
परिमाण में भी हम उत्तरोत्तर विकास के अंकुर देख रहे हैं, जो एक दि
वटवृक्षों की छाया, उनके वितान और अप्रत्याशित आगत, समागत
पथिकों के *शरण-अवलम्ब के माध्यम बनेंगे।*

कहानीकारों का परिचय

प्रेमचन्द

'बड़े घर की बेटी' कहानी में सामाजिक विपर्यय के स्थान पर ,सामा-
जिक निर्माण की भावना प्रमुख है। इसकी नायिका आनन्दी बहुत ही
प्रबुद्ध, व्यावहारिक और कर्त्तव्यपरायण नारी है। मनोवेगों के थोड़े से मोड़
से ही बरबाद होता हुआ घर, किस तरह सुरक्षित बना रह सकता है,
इस बात का उसे पर्याप्त ज्ञान है। लालबिहारी और श्रीकंठ की हार्दि-
*कता को जानने में आनन्दी ने चेतना के जिन भाव-सूत्रों को संगठित
किया है, उसका चित्रण करने में प्रेमचन्द जी ने सचमुच उच्च स्तरीय
कला का पूरा-पूरा निर्वाह किया है। यद्यपि यह कहानी स्वतन्त्रता प्राप्ति*
गई थी, किन्तु अपने समाज के वर्तमान परिवेश में

आज भी उसकी प्राणवत्ता पूर्ववत् सुरक्षित बनी हुई है।

जयशंकर प्रसाद

यद्यपि हिन्दी साहित्य मे मौलिक कहानीकार के रूप में प्रसाद जी का पदार्पण पाँच-छः वर्ष बाद हुआ। उनकी पहली कहानी सरस्वती मे सन् सोलह मे प्रकाशित हुई। सामान्यरूप से हर समीक्षाकार प्रसाद जी की गणना प्रेमचन्द युग मे करते हुए सर्वथा आदर्शवादी, सुधारवादी मान लेते हैं। किन्तु युग-बोध के अनुरूप उन्होने तत्कालीन राष्ट्रीयता और मानवतावादी सुधारवृत्ति से प्रेरणा पाकर कहानियाँ नही लिखी। उनकी कहानियो का धरातल अधिकांश रूप से सांस्कृतिक है। इसमे सदेह नहीं कि उनकी भावप्रधान कहानियाँ सर्वथा कल्पनाशील बहुत हैं। किन्तु पाठकों के मर्म को छू लेने का कलापक्ष प्रबल है। उनकी कहानियाँ मनुष्य की अन्तरात्मा को पुलकित और मुकलित करने में अधिक सफल हैं। ध्यान से देखा जाए तो सामाजिक जीवन की गरिमा का उन्मेष तो कहीं-कहीं मिलता है, किन्तु जीवन की नग्न यथार्थता और कटुता के प्रति मानव मन का विद्रोहात्मक क्षोभ अपेक्षाकृत कम है। कवि होने के कारण प्रसाद जी की भाषा मे अर्थ गाम्भीर्य अधिक है और कही-कही तो मानव प्रकृति की अभिव्यंजना मे कविता का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। कथा-प्रवाह मे कथानक का निर्वाह अपेक्षाकृत कम है।

प्रसाद जी ने कृतिकार के रूप मे साहित्य का जो अंग हाथ मे लिया उसका गम्भीरतापूर्वक अन्त तक निर्वाह किया। उनकी कहानियाँ अनेक दिशाओ मे अपना परिपूर्ण प्रभाव रखती हैं। भावना प्रधान, चरित्र प्रधान, घटना प्रधान तथा ऐतिहासिक ही नही कतिपय कहानियाँ तो यथार्थवादी भूमि पर भी लिखी हैं। परिस्थितियो के चुनाव में उन्होंने विविधता और भिन्नता का पूरा ध्यान रखा है, परन्तु नाटकीयता उनकी

कथा-वीथी

कहानी का सबसे बड़ा गुण है। उनकी शैली मे शब्द-चयन, कथा-वि
अनुच्छेदों का क्रमिक स्थापन तथा कथोपकथन में एक विशिष्ट परि
की झलक हमे मिलती है। वे प्रेम के स्वच्छन्द रूप के पक्षपाती अ
हैं पर उनके प्रेम मे उच्छृंखलता को कहीं स्थान नहीं है। चरित्
आकलन मे उन्होंने प्रेम के आदर्श और सात्विक जीवन के प्रति
आस्था और श्रद्धा प्रकट की है उसमें भारतीय संस्कृति का गौ
बोलता है। उनकी कलात्मक रचना में मानवीय संवेदनशीलता प्र
मात्रा मे पाई जाती है।

'आकाश दीप' बुद्ध कालीन वातावरण पर लिखी हुई प्रसाद जी
बहुत प्रसिद्ध और बहुचर्चित कहानी है। इसमें चम्पा का चरित्र बहुत
पावन, आदर्शपरक, सात्विक और मनोरम चित्रित किया गया है। प्रस
जी की भाषा में उनका भावप्रवण कवि सदा मुखरित रहता है। य
कारण है कि चम्पा के चरित्र में उन्होंने संवाद के माध्यम से जीवन दर्श
में डूबी हुई जिस मर्मान्तिक भाषा का प्रयोग किया है, पाठक को उसक
वर्षों स्मरण आता रहता है। यथा 'सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा
बुद्ध गुप्त मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पव
शीतल है, कोई विशेष आकांक्षा हृदय में प्रज्ज्वलित नहीं, सब मिलाकर
शून्य है। प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने
को मुझे छोड़ दो। इन निरीह भोले-भाले प्राणियों की दुख की सेवा के
लिए। इस कहानी में काव्य, कथा, व्यथा, दार्शनिक, निरूपण और चित्रा-
त्मक परिस्थितियों का आकलन अपनी सम्प्रेषणीयता मे बहुत ही कलात्मक
बन पड़ा है। युग बीत जाएँगे मगर प्रसाद जी की यह कहानी जीवित
बनी रहेगी।

रूप से मिलता है। उन्होंने छोटी कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें कला का समुचित निर्वाह हुआ है पर वे अधिकतर ऐतिहासिक हैं। शास्त्री जी भीतर से बहुत रसिक और प्रेमी जीव थे। उनकी बहुतेरी कहानियों में प्रायोगिक अवसरों से प्राप्त प्रेरणाओं की भी झलक मिलती है, जिनमें हृदय को स्पर्श करने वाला माधुर्य रहस्यात्मक जीवनसत्य का उद्घाटन और अन्तिम परिणतिमूलक कला का अनुपम सौंदर्य दृष्टिगत होता है।

शास्त्री जी ने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें भारतीय संस्कृति की गौरव गरिमा का स्पष्ट आकलन हुआ है। ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर उन्होंने आधुनिक जीवन-तत्वों का समन्वय स्थापित करने में सराहनीय कुशलता प्रदर्शित की है। उनका कथन है कि सत्य के साथ सौंदर्य का समन्वय स्थापित करने से ही कला के मंगलरूप की उद्भावना होती है, और यह मंगल ही हमारे जीवन का ऐश्वर्य है।

शास्त्री जी सामाजिक जीवन की विकृतियों और विसंगतियों से बड़ी वितृष्णा रखते थे। इसलिए उन्होंने कुछ कहानियों में पात्रों के पथ-भ्रष्ट होने और नैतिक पतन के गर्त में लीन हो जाने वाले कुत्सित चरित्रों पर बड़ा ही क्षोभ प्रकट किया है। इसीलिए वे चित्र कहीं-कहीं अति-रंजित भी हो गये हैं। किन्तु सब मिलाकर कथासाहित्य को शास्त्री जी की बहुत बड़ी देन है, और ऐतिहासिक यथार्थवाद की दृष्टि से इस क्षेत्र में स्व० वृन्दावनलाल वर्मा से आगे ही उनकी गणना करनी चाहिए। इसका कारण है। उन्होंने जिस काल के कथानक की कल्पना की है उसमें तत्कालीन संस्कृति का इतना ध्यान रखा है कि उनके पात्र काल्पनिक होते हुए भी अत्यन्त सजीव और यथार्थ प्रतीत होते हैं। ऐतिहासिक होने पर भी उनकी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति में कला का उच्च रूप दृष्टिगत होता है।

'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' शास्त्री जी की बहुचर्चित कहानी

कथा-वीथी

है। इसका वातावरण मुगलकालीन है। बादशाहों की बेगमों के अंतःरिक जीवन में जो रहस्य छिपे रहा करते हैं इस कहानी में उनकी कल्पना बड़े कलात्मक ढंग से हुई है। शास्त्री जी ने पात्रों के अनुरूप भाषा दी है और उनकी दिनचर्या में आमोद-प्रमोद के बीच सुरापान और संगीत व मनोरम कार्यक्रम की झलक दिखला कर, बादशाहों की विलास-क्रीड़ा का प्रभावशाली दृश्य अंकित किया है। इसमें सलीमा का चरित्र, बादशाह की गर्वनिष्ठा और साकी के रूप में रहने वाले एक तरुण की एकाकी हार्दिकता और सत्यस्नेह को दर्शनीय अभिव्यक्ति दी है। सलीमा बेगम का चरित्र शास्त्री जी ने बहुत ही उज्ज्वल चित्रित किया है। इसी उज्ज्वलता का निर्वाह उन्होंने उसकी साकी के रूप में तरुण के चरित्र में भी दिखलाने की चेष्टा की है। इस कहानी में जीवनव्यापी प्रेमतत्त्व का बहुत स्वाभाविक निरूपण बन पड़ा है। चित्रण यथार्थवादी है, किन्तु प्रमुख पात्रों का चरित्र कहीं से भी दुर्बल और अवैध नहीं होने पाया। इस दृष्टि से इस कहानी में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

जैनेन्द्र कुमार

जैनेन्द्र जी हिन्दी कथाकारों में शीर्ष स्थान के अधिकारी बन चुके हैं। यद्यपि कहानी लेखन के कलात्मक सौष्ठव में उनकी परिगणना प्रायः प्रेमचन्द्र जी के बाद और अज्ञेय जी के साथ की जाती है। उनकी कहानियों में मध्यम वर्ग का चित्रण विशेष है और जीवन की मानवीय दुर्बलताओं तथा विसंगतियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में वे सदा चिरचर्चित रहे हैं। उनका मनोविश्लेषण व्यक्ति परक विशेष होता है और कभी-कभी जब उनका दार्शनिक चिंतन अधिक उभर उठता है तो बहुधा उनकी कहानियों में दुरूहता भी आ जाती है। वे अपने निकटवर्ती

और सम्पर्क में आये हुए व्यक्तियों के आंतरिक जीवन का चित्रण करने में बड़े कुशल हैं। पर इसी कारण कदाचित उनकी कहानियाँ जब चरित्र प्रधान बन जाती हैं तब उनमें कलात्मक सौष्ठव विशेष रूप से स्पष्ट होता है। उनके संवादों की भाषा में यत्र-तत्र जब एक दार्शनिक का सा चिंतन आ जाता है तब वे सबंधित पात्र के चित्रण में सर्वथा तटस्थ नहीं रह पाते। उनके वाक्य यद्यपि छोटे-छोटे होते हैं पर उनका आशय बड़ा व्यापक और अर्थग्राही होता है। उनकी कहानियों मे 'भाभी', 'जाह्नवी', 'एक रात', 'अपना-अपना भाग्य', 'नीलम देश की राजकन्या' और 'फाँसी' बहुचर्चित कहानियाँ हैं।

कहा जाता है कि जैनेन्द्र जी की कहानियों मे मनुष्य के यथार्थ जीवन को देख पाना कठिन है क्योंकि उन्होंने जीवन के आन्तरिक द्वंद्व और सामाजिक संघर्ष से अपनी कहानी का आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने में यथेष्ठ सफलता नहीं प्राप्त की। पर वे शिल्प के क्षेत्र में सदा ही नए-नए प्रयोग करते आये हैं। आत्मकथात्मक शैली में लिखी हुई उनकी कतिपय कहानियाँ बड़ी रोचक हैं, जिनसे हिन्दी कथा-साहित्य का कलात्मक स्तर निःसंदेह उच्च बना है। अपनी बात कहने में वे प्रतीकों का प्रयोग बड़े ही प्रभावशाली ढग से करते हैं। उनकी कथाओं मे चरम परिणति रोचक होते हुये भी नाटकीय बन जाती है। भाषा की दृष्टि से वे सपूर्ण कथाकारों से सर्वथा अलग और मौलिक हैं। कहानी लेखन के प्रारम्भिक काल मे विश्वविद्यालयों के जो प्राध्यापक उनकी भाषा को अटपटी और असबद्ध तक मानते थे, कालांतर मे वे उन्हें भाषा के क्षेत्र मे विशिष्ट शैलीकार मानने लगे। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र जी ने कहानी के प्रारम्भ और अन्त के स्वरूपो मे जो मौलिक प्रयोग किए हैं उनके कारण चिंतन मे ही नही शिल्प में भी वे युगप्रवर्तक माने जाते हैं। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दो मे—"अब कहानी वहाँ से प्रारम

होने लगी है जहाँ वह समाप्त होती है । यह शिल्प की दृष्टि से एक महत्व पूर्ण सफलता है ।"

'तत्सत्' जड पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव निरूपण के माध्यम से जैनेन्द्र जी ने अपना जीवन दर्शन देने की चेष्टा इस कहानी में की है। कहीं-कहीं अभिव्यक्ति ऐसी सुन्दर बन पड़ी है कि आज की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों मे व्याप्त कुंठायुक्त मनोविकारों का भी सांकेतिक आकलन दृष्टिगत होता है । जैनेन्द्र जी ने प्रत्येक युग के साथ अपने जीवन के अनुभव, और मनोविश्लेषण प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट किए हैं । इस कहानी में भी जिस स्थान पर, प्रथम पुरुष ने सब से कहा "भाइयो, 'जंगल कहीं दूर या बाहर नहीं है, आप लोग सभी वह हो।"

इस पर फिर गोलियों से सवालों की बोछार उन पर पड़ने लगी।

"क्या कहा ? मैं जंगल हूँ ? तब बबूल कौन है ?"

"झूठ ? क्या मैं यह मानूं कि घास नहीं, जंगल हूँ ? मेरा रोम-रोम कहता है कि मैं घास हूँ ।"

"और मैं घास ।"

"और मैं शेर ।"

"और मैं साँप ।"

इस भाँति ऐसा शोर मचा कि उन बेचारे आदमियों की अकल गुम होने को आ गई ।

इस कहानी के अन्त में बड़े दादा कहते है, "वह है, वह है ।"

"कहाँ है ? कहाँ है ?"

"सब कहीं है, सब कहीं है ।"

"और हम ?"

"हम नहीं, वह है ।"

कथा-वीथी

इस कहानी में वन को यदि हम अपने देश का प्रतीक मान लें तो उसके मध्य के, पेड़-पौधे और जीव-जन्तु आदि की कल्पना प्रतीकात्मक ढग से उन प्रदेशों की ओर चली जाती है, जो अखंड भारत को खंड-खंड के रूप में देखते और अपने को सर्वथा अलग मानते हुए सामूहिक हितो की कल्याणकारी भावना की कभी-कभी उपेक्षा कर बैठते हैं। पात्रों के कथोपकथन कहीं-कहीं बहुत मार्मिक तो हैं ही साथ ही साथ जैनेन्द्र जी की दार्शनिक विचारधारा को अपने साथ मे समेटते चलते हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

पं० भगवतीप्रसाद जी वाजपेयी आधुनिक हिन्दी कहानी के उद्भव और विकास से अभिन्न रूप से सम्बन्धित कथाकार हैं। आपने हिन्दी कहानी के कलापक्ष को परिष्कृत और परिमार्जित करने में लगभग ५० वर्षीय अविस्मरणीय योगदान किया है। यदि आपकी कहानियाँ काल क्रमानुसार अध्ययन की जाएँ, तो हिन्दी कहानी-शिल्प के परिवर्तमानरूप और विकासशील प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि और प्रामाणिक इतिहास सहज ही में उपलब्ध हो सकता है। वाजपेयी जी ने सदा कहानियो को कला-भिव्यक्ति का साधन माना है। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ जन-साधारण मे भले ही अधिक लोकप्रिय न हों, किन्तु साहित्य के प्रबुद्ध पाठको और सूक्ष्म आलोचकों के लिए वे आकर्षण का विशेष केन्द्र-बिंदु बनी हैं। उनकी कहानी-कला न तो पाश्चात्य कहानी-शिल्प का अनुकरण है और न बगला कथा शिल्प की प्रतिच्छाया। वास्तव में वाजपेयी जी ही ऐसे कहानीकार हैं जिनकी कला सर्वथा मौलिक और भारतीय संस्कारों से युक्त है। कुछ दिक्भ्रमित आलोचको ने उनकी कहानियों मे पाश्चात्य शैली और शिल्प के दर्शन करने की चेष्टा की है, किन्तु उन्हें ज्ञात नहीं है कि वाजपेयी जी ने अपने कथा-शिल्प को भार-

गीत संगीत वातावरण से अनुप्राणित किया है और अपनी मौलिक प्रतिभा, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-क्षमता, सहज मनोवैज्ञानिकता से परिपुष्ट किया है। इसी प्रसंग में यह बात कहना भी अनुचित न होगा कि सांकेतिकता, अमूर्तता तथा बौद्धिकता जैसे गुणों को आज की कहानी में समावेश कर नये मूल्य के नाम पर प्रचारित किया जाता है, किन्तु इतिहास इस बात को गलत और भ्रामक साबित कर देता है। इन प्रवृत्तियों को बहुत पहले जैनेन्द्र, प्रसाद, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और इलाचन्द्र जोशी आदि कहानीकार अपना चुके थे। यूँ तो वाजपेयी जी ने तीन सौ से अधिक कहानियाँ हिन्दी कथा-साहित्य को दी हैं, पर उनमें से मिठाई वाला, निंदिया लागी 'सूनी लकड़ी' 'खाली बोतल' 'प्रलोभन' 'अंधेरी रात' आदि लगभग पचास कहानियाँ बहुचर्चित रही हैं। शैली के सम्बन्ध में उन्होंने भी कई नए प्रयोग किए हैं। जिनमें प्रतीकवाद का बड़ा ही कलात्मक उदय हुआ है।

आधुनिक कहानीकारों में वाजपेयी जी ने कहानी के सम्बन्ध में जितने विविध प्रयोग किए हैं संभवतः किसी कहानीकार ने नहीं किए। बहुचर्चित नई कहानी के शिल्प के अनेक तत्व वाजपेयी जी की कहानियों में सहज ही देखे जा सकते हैं। वाजपेयी जी के कथाकार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवदान भाषा सम्बन्धी है। यह कहना अनुचित न होगा कि इन्होंने आधुनिक कथा साहित्य को अत्यधिक समलंकृत परिधान प्रदान किया है।

'निंदिया लागी' इस कहानी की परिकल्पना में रोमांस, वस्तु में श्रमिक जीवन की एक मर्मान्तिक घटना और अंतिम परिणति में बंगले के स्वामी–एक अध्यापक–की स्वप्निल मनोव्यथा का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। ओवरसियर के माध्यम से जो विचार वाजपेयी जी ने व्यक्त किए हैं, उनकी दार्शनिकता का भी सुन्दर समन्वय हुआ है। सन्

४० के लगभग रचित इस कहानी में वाजपेयी जी ने अपने कथ्य भी यथेष्ट मात्रा में प्रस्तुत किये हैं। इसकी गणना उनकी श्रेष्ठ कहानियों में की जाती है। हिन्दी जगत में इस कहानी की बड़ी प्रतिष्ठा हुई है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

'उग्र' जी की कहानियों में समाज में फैली हुई अनैतिकता उच्छृङ्खलता का विश्लेषण यथार्थता के साथ हुआ है। धनी-मानी पुरुषवर्ग की वासना-तृप्ति में नारी की विवशता और आर्थिक अवलम्ब के अभाव में उसकी परवशता का निरूपण बड़े ही सजीव ढंग से हुआ है। सामाजिक जीवन की इन विसंगतियों को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर कुछ ऐसी कहानियों की रचना की जिनका समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि कहीं-कहीं उनकी अभिव्यंजना अतिरंजित हो गई है। इसीलिए उनकी कहानियों में यथार्थ-वाद की अपेक्षा प्रकृतिवाद उभर कर आ गया है। यद्यपि उनका उद्देश्य मूलरूप से मानवता का सुधारवादी दृष्टिकोण था। कुछ आलोचकों का मत है कि वे अपने उद्देश्य की भूमि में सीमित न रहकर कलाकार की मर्यादा का अतिक्रमण कर गए हैं। उनके चित्रण में असंयम आ गया है। यह तो ठीक है कि लेखक को दोहरा कर्त्तव्य पालन करना पड़ता है। एक ओर तो वह समाज का निर्माता होता है और दूसरी ओर गतिशील प्रहरी। जीवन की कुरूपताओं और सामाजिक विषमताओं पर प्रकाश डालने में हिचकिचाना उसका धर्म नहीं, पर फिर सहसा यह भी ध्यान में आता है कि कला-धर्मिता अपने आप में एक सौंदर्य-बोध भी तो है। रचनात्मक सौष्ठव के साथ उसका वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा यथार्थ के आकलन में युगबोध का। जब कभी दोनों के समन्वय में संतुलन न रहेगा तब सामान्य रूप से स्तरीय रचना भी भीतर से सस्ती और

निम्नकोटि की हो जाएगी । कहीं-कहीं 'उग्र' जी भी बहक गए हैं, उनका संतुलन नष्ट हो गया है । जब लेखक जीवन की विसंगतियों का वासनात्मक चित्रण करते-करते यह भूल जाता है कि वह तो जीवन की वह व्याख्या कर रहा है जो आलोचनात्मक है, तब अपनी रचनात्मक प्रक्रिया के दौर मे उसे परिस्थितियों के आकलन में रस लेने का क्या अधिकार है । इसीलिए इनकी कतिपय कहानियाँ स्तर से गिरी हुई प्रतीत होती हैं । उनके पात्र सजीव और उनका चित्रण आकर्षक होता है । संवादों की भाषा सरल और स्वाभाविक होती है । उनमें अवसर के अनुकूल क्षोभ और उग्रता की अग्नि का समुचित समावेश होता है । ऐसा भी एक युग था जब हिन्दी का विशिष्ट आलोचक उन्हें अति यथार्थवादी मानकर उन पर प्रकृतिवादी होने की घोषणा कर देता था । स्वतन्त्रता के बाद जब नई कहानी का दौर चला तब उसके अधिनायकों ने नई दिशा, नई भाव-भूमि अपनाने का दावा करते हुए नई कहानी को नव-नव अर्थवत्ता देने का ढिंढोरा पीटा । ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि इन नए नामधारी कृतिकारों ने 'उग्र' जी की शैली का खुलकर अनुकरण किया । कहते हैं, मोहन राकेश की 'सेफ्टीपिन', राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशायें' श्रीकांत वर्मा की 'तकशाथा' आदि कहानियों में 'उग्र' जी की शैली का स्पष्ट अनुकरण किया गया है ।

। हिन्दी कथा के क्षेत्र में 'उग्र' जी की परिगणना सदा एक रूप में की जाएगी ।

'हिन्दू मुसलिम एकता' की भावभूमि पर लिखी हुई एक रचना है । भाषा पात्रों के अनुकूल सरल और स्वाभाविक है, मार्मिक और प्रभावशाली । यद्यपि यह कहानी मौलिक

है, पर इसका सामाजिक धरातल ही नहीं, इसकी व्यञ्जना भी सहसा प्रेमचन्द जी का स्मरण दिलाती है।

यशपाल

यशपाल जी प्रगतिवादीधारा के श्रेष्ठतम कथाकार हैं। यद्यपि अपने रचना-क्षेत्र मे वे मार्क्सवाद से प्रभावित लेखक माने जाते हैं, किन्तु मनुष्य मात्र की दुर्दस्यामूलक विसंगतियो में सामाजिक वैषम्य, शोषण आदि परिस्थितियों का चित्रण ऐसे सुन्दर और स्वाभाविक ढग से करते हैं कि प्रचार की गध से बहुत कुछ सरक्षण पा लेते हैं। उनके पात्रो की आधार भूमि मध्यवर्गीय जीवन है। उन्होने पूँजीवाद अर्थ-व्यवस्था पर भी यत्र-तत्र प्रहार किए हैं। निर्धनता के अभिशाप को वे समाज की देन मानते हैं। नारी के सम्बन्ध मे भी उनका यह विचार हमारे मन पर एक आघात पहुँचाए बिना नहीं रहता, कि पूँजीजीवी समाज में नारी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नही है। उसके शरीर पर ही नहीं मन पर भी पुरुष का ही परिपूर्ण अधिकार रहता है। उसकी तीन स्थितियाँ हैं, पहले पुत्री फिर बहू और बाद मे जननी। तीनों अवस्थाओ मे उसका अपना सर्वथा पृथक और स्वतन्त्र रूप मे कोई स्थान नही है। जीवन मे उसके लिए केवल दो कार्य हैं, स्वामी को प्रसन्न रखना और सतान पैदा करके उसका पालन-पोषण करना। उन्होने अपनी कथाओं में रूढ़ियो, अधविश्वासो, शोषण के बधनो की खुलकर आलोचना की। इस दृष्टि से यशपाल जी का लेखक प्रचारक अधिक और कलाकार कम हो जाता है, पर उनका सबसे बड़ा कौशल यह है कि सामाजिक विषमता आर्थिक सघर्ष और वर्गीय असमानता की भूमि पर रहते हुए भी उन्होने अपनी कहानियों में मन को स्पर्श करने का मर्मान्तिक प्रभाव उत्पन्न किया है। उनकी अभिव्यक्ति मे मनोविश्लेषण पद्धति का आग्रह नहीं प्रतीत

कथा-वीथी

होता, किन्तु यथार्थ स्थिति के प्रकाशन और जीवन सत्य के उद्घाटन में उन्होंने अपूर्व सफलता प्राप्त की है। उनके कथोपकथन बड़े ही सजीव और प्रासंगिक होते हैं। जहाँ कहीं वे विसंगतियों पर अपना आक्रोश प्रकट करते हैं, वहाँ उनका आक्रोश बड़ा सशक्त और बौद्धिक होता है।

आज नई कहानी का आलोचक जब कभी-कभी यह कह बैठता है कि नए कलाकारों ने अपना क्षेत्र भी नया चुना है, नई भूमि अपनाई है नई भूमि तोड़ी है, उनका युग-बोध भी सर्वथा नवीन है तब वह यह भूल जाता है कि इस परम्परा के जनक स्व० प्रेमचन्द जी थे जिनका सम्यक् विकास कालान्तर में प्रेमचन्द युग के कई लेखकों ने किया। इनमें यशपाल जी का विशिष्ट स्थान है। नए युग के कहानीकारों में कई लेखकों की वही दृष्टि है, जो यशपाल जी में है। कहना न होगा कि भीष्म साहनी यशपाल जी से कम प्रभावित नहीं हैं।

यशपाल जी के कई कथा-संग्रह हैं, किन्तु उनकी 'ज्ञानदान', 'फूलों का कुर्ता', 'तुमने क्यों कहा था', 'मैं सुन्दर हूँ' 'मक्रील' आदि कहानियाँ कला की दृष्टि से बहुचर्चित हैं।

'मक्रील' कहानी का प्रारम्भिक अंश तो वातावरण प्रधान है, पर आगे चलकर मक्रील नामक पहाड़ी नदी पर टहलने और प्रकृति की छटा देखने के लिए एक प्रौढ़ कवि और एक तरुणी साथ-साथ चलते हैं। दोनों में प्रतीकों के रूप में प्रेमवार्ता होती है, साथ देने के प्रस्ताव का अनुमोदन करती हुई युवती जब मक्रील की उमड़ती और गर्जन करती धार में सहसा कूद पड़ती है, तब कवि हक्का बक्का रह जाता है और फिर होटल में लौटकर केवल भावना के सवेग से उसका भी देहान्त हो जाता है। कला की दृष्टि से यह कहानी एक महत्वपूर्ण कृति अवश्य है, पर इसकी कल्पना में कोई सामाजिक चेतना नहीं है। किसी

समस्या का समाधान भी नहीं करती। इतने पर भी युवती का पावन और दृढ़ चरित्र अवश्य प्रभावित करता है। वह हमारी संवेदना को सहज ही स्पर्श कर लेती है।

यशपाल जी की कहानियों में केवल कला की दृष्टि से लिखी कहानियों की संख्या बहुत कम है।

जान पड़ता है यशपाल जी ने यह कहानी तब लिखी थी जब उनके विचारों में प्रगतिवादी उन्मेष नहीं आ पाया था।

भगवतीचरण वर्मा

वर्मा जी की कहानियों में मध्यवर्गीय समाज की जो अभिव्यक्ति हुई है, वह व्यक्तिवादी है। समाज की दुखती रग पर व्यंग्य का नश्तर लगाने में वे बड़े सफल सिद्ध हुए हैं। अपने सिद्धान्तों के विषय में उनके कुछ विचार बड़े चौंकाने वाले हैं, यथा "तुम प्रेम-प्रेम चिल्लाते हो लेकिन प्रेम है भी कहीं जो कुछ है सो पैसा है। मात्र पैसा ही तो है जो मनुष्य की आत्मा तक को खरीद लेता है। पैसा ही शक्ति है वही मुक्ति है, प्रेम, भावना सब ढकोसला है। हम समाज के शासन में रहते हैं क्योंकि समाज हमारी रक्षा करता है, समाज के शासन को हम तोड़ नहीं सकते, उसको बदल भर सकते हैं और बदलने का अधिकार महापुरुषों को होता है। हम महापुरुष तो बन नहीं सकते, इसीलिए हम समाज को बदल नहीं सकते। इसीलिए सामाजिक धर्म का पालन करने को विवश हैं मगर उसके आगे हम अपना सिर नहीं झुकाएँगे तो अराजक बन जाएँगे, लेकिन चूँकि हम सामाजिक प्राणी हैं इसीलिए अराजक भी नहीं बन सकते।"

वर्मा जी के ये विचार हमको नए भले ही लगें किन्तु इनके भीतर उनके अनुभवों का जीता जागता सत्य बोलता है। जो बहुत एकांगी कुंठा-

कथा-वीथी

ग्रस्त और कटु हैं । उपन्यासों में तो वर्मा जी के ये विचार पात्रों के माध्यम से सफल रूप में आए हैं, किन्तु कहानियों में व्यंग्य का पुट देकर वर्मा जी ने अपनी कहानी की रचना-प्रक्रिया में मनोविश्लेषण पद्धति को ग्रहण नहीं किया । वे कहानी कहने में मनोरंजन का विशेष ध्यान रखते हैं । उनकी भाषा स्वच्छ और मुहावरेदार होती है, उर्दू के शब्दों का प्रयोग वे नि.संकोच करते हैं । एक आलोचक का अभिमत है कि वर्मा जी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से हिन्दी कहानी को समृद्ध किया है । जहाँ तक कथानक का सम्बंध है वे अपनी कला में अवश्य क्रांतिकारी हुए हैं, किन्तु मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व और वैचारिक अंतश्चेतना की अभिव्यक्ति में कोई सूक्ष्म या सशक्त कलात्मक प्रयोग उन्होंने नहीं किया। वे घटना की गहराई में जाने की चेष्टा नहीं करते और पात्रों की अंतरात्मा के साथ विचरण करने का भी प्रयास उन्होने नहीं किया । हाँ, कथात्मक संगठन की दृष्टि से उनकी कहानियों में नाटकीय तत्व की प्रभावात्मकता बड़ी समृद्ध है ।

उनकी लिखी हुई 'दो बाँके' और 'प्रायश्चित' कहानियाँ बहु-चर्चित हैं ।

'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' अपने बाह्य रूप में तो मात्र हल्का-फुल्का मनोरंजन ही उत्पन्न करती है, किन्तु इसके हर व्यंग्य के पीछे एक कटूक्ति है जिसमें एक विनोद तत्व तो है ही किन्तु उसके भीतर एक जीवन सत्य भी निहित है । तंबू रबड़ का है, जो अपने कार्य कलाप में प्रभुसत्ता के अपहरण का प्रतीक है । इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कहीं तो इस ढंग से लिखी गई है जैसे कोई साधारण व्यक्ति उर्दू मिश्रित बोल-चाल की भाषा में कहानी कहता हुआ घटना के विभिन्न दृश्यों की संयोजना करता आ रहा हो, किन्तु इसकी

वा-चौपी

पृष्ठभूमि मे ऐतिहासिक सत्य भी है, जिसकी अभिव्यंजना प्रतीकात्मक ढंग से बहुत सफलतापूर्वक हुई है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

अश्क जी बड़े प्रतिभाशाली लेखक हैं। उनकी कतिपय कहानियाँ बड़ी रोचक और कलात्मक बन पड़ी हैं। वे सामाजिक यथार्थ प्रकट करने मे बहुत कुशल हैं। यद्यपि उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है, किन्तु प्रगतिशील विचारधारा के प्रवाह मे पड़कर उन्होंने कुछ चौंकाने वाली कहानियाँ भी लिखी है। कलाधर्मिता के प्रति उनमे इतनी आस्था नही है जितनी जल्दी से जल्दी लेखकों मे सबसे आगे बढ़ जाने की तीव्र लालसा। इस आतुरता में उन्होंने गत्यात्मक शक्ति-सचयन का परिचय तो दिया है पर प्रचारात्मक प्रवीणता और साधनात्मक दुर्बलता के संघर्ष में पड़कर कतिपय कृतियों मे अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग भी किया है। उनकी दृष्टि पैनी है और उनका व्यंग्य बड़ा तीखा है, इसमें सदेह नहीं और चरित्रो के चित्रण में भी वे यथेष्ट कुशल हैं, किन्तु कला के मांगलिक रूप के प्रति उनमें उस निष्ठा का अभाव है, जो कलाकार के रूप मे एक विचारक और समाज-निर्माण में होती है। इसीलिए उनकी कतिपय कहानियाँ अति यथार्थवादी, नग्न और बीभत्स हो गई हैं। उनके कई कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और जिन्होंने हिन्दी कथा में बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की है, जिनमें उनकी 'डाची' कहानी बहुचर्चित है।

'डाची' कहानी पहले तो आंचालिक वातावरण के चित्रण से प्रारंभ होती है, फिर इसमे वात्सल्य की झलक मिलती है। बाकर का चरित्र बड़ा ही आत्मपीडक बन पड़ा है और अंत तक पहुंचने-पहुंचते वह पाठक की मुख्य संवेदना के समुदाय का आधार बन जाता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति

के पूर्व लिखी हुई होने पर भी यह कहानी अपने परिवेश में नए पाठक के लिए आज भी नई है। इस कहानी में समाजवादी मानवीय संत्रास की स्पष्ट झलक मिलती है। अश्क जी की यह कहानी उनकी कलात्मक प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करने में पूर्ण समर्थ है। मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं हो रहा है कि प्रेमचन्द युग में लिखी हुई अश्क जी की इस कहानी की तुलना में नई कहानी के आधुनिक लेखकों की एकाध कहानी ही ठहर पाती है।

कमलाकांत वर्मा

कमलाकान्त वर्मा हिन्दी के उन कथाकारों में हैं जिनकी कहानियों की आधारभूमि में कोई न कोई जीवन दर्शन होता है। जड़ पदार्थों के रूप गुण स्वभाव की चर्चा में मानवात्मा की झलक मिलती है। यद्यपि उन्होने बहुत अधिक नहीं लिखा, लेकिन उनकी प्रत्येक कहानी अपने वातावरण में बहुत गंभीर पात्रों के चुनाव में नवीन और संवादों में हृदय को स्पर्श करने वाली दार्शनिकता पाठक के मन पर प्रभाव डाले बिना नही रहती। पगडंडी कहानी में यह गुण परिपूर्ण रूप से विद्यमान है। लगभग पचास वर्ष पूर्व महामना रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सड़क की बात पर एक बड़ा ही मनोरंजक निबंध लिखा था। संभव है वर्मा जी को इस कहानी के लिखने में उस कहानी से किंचित प्रेरणा मिली हो, किन्तु मुझे यह कहानी उससे कुछ आगे बढ़ी हुई मिली। कथा से तो यह पूर्ण रूप से मौलिक है, किन्तु कथ्य भी इसका बहुत गंभीर और दार्शनिक होते हुए भी मर्मस्पर्शी है। कुंआ और पगडंडी दोनों का ही चरित्र चित्रण एक प्रेमी और प्रेमिका के रूप में हुआ। चरित्र जड़ होते हुए भी चित्रण में सर्वथा मानवीय जान पड़ते हैं।

आत्मकथा के रूप में लिखी हुई यह कहानी एक खंड काव्य का सा प्रभाव उत्पन्न करती है, क्योंकि इसकी भाषा भी बहुत कवित्वमयी है।

कथा-वीथी

राधाकृष्ण

राधाकृष्ण जी पुराने कहानी लेखक हैं। आज बिहार में कई हिन्दी कहानी लेखक उत्पन्न हो गए हैं, किन्तु एक युग था जब वे व्यंग्यात्मक कहानी लिखने में बिहार का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने इस राधाकृष्ण नाम से तो अधिकतर गंभीर कलात्मक कहानियाँ किन्तु लिखींअपने तरुण जीवन काल में वे घोष बोस, बनर्जी, चटर्जी नाम से व्यंग्यपूर्ण कहानी लिखने में बहुत लोकप्रिय लेखक माने जाते थे।

'अवलम्ब' कहानी का नायक नैतिकता को जीवन के लिए बहुत कल्याणकारी मानता है और तदनुरूप चलने की चेष्टा भी करता है। उसके जीवन में कठिनाइयाँ आती हैं, किन्तु वह उनसे विचलित नहीं होता। वह कठिनाइयों से मुक्ति तो चाहता है, पर उसके दृष्टिकोण में कहीं अनैतिक आग्रह को स्थान नहीं मिलता। जो आकांक्षाएँ उसके मन में उत्पन्न होती हैं, वह सोचता है कि उन्हें अवश्य पूर्ण कर लेगा। गंभीर परिस्थिति में भी वह धैर्यशील बना रहता है। इस प्रकार राधाकृष्ण जी ने इस कहानी में एक अत्यन्त दृढ़ चरित्र का उन्मेष सुंदर और स्वाभाविक ढंग से किया है।

अज्ञेय

अज्ञेय जी का पूरा नाम है, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन। उनका जन्म कसिया जिला गोरखपुर में हुआ था। मूल निवासी आप करतारपुर पंजाब के हैं। आप बहुमुखी प्रतिभा के लेखक, कवि, चिंतक, चित्रकार और छायाचित्रकार हैं। कविता, कहानी, उपन्यास, भ्रमण-वृत्तांत, निबन्ध आदि साहित्य की अनेक विधाओं पर अधिकारपूर्वक लिख कर बहुत लोकप्रियता अर्जित की है, सदा बहुचर्चित रहे हैं, किन्तु अपने मौलिक विचारों और साहित्यिक अभिव्यंजना में आप बहुत विवाद

प्रस्त व्यक्तित्व के साहित्यकार माने जाते हैं। अज्ञेय जी ने जिस समय हिन्दी कहानी क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय जैनेन्द्र जी हिन्दी कहानी जगत में अपना स्थान बना चुके थे। किन्तु अज्ञेय जी ने अपनी कहानियों में कथा की अपेक्षा कथ्य को अधिक महत्व दिया। प्रेमचन्द जी के बाद जिन तीन कथाकारों ने हिन्दी कहानी को एक वैचारिक मोड़ दिया, पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी जी के कथनानुसार उनमें जैनेन्द्र जी, अज्ञेय जी और श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार मात्र थे। अज्ञेय जी की कहानियाँ यद्यपि प्रभाववादी हैं, किन्तु अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि में वे जीवन सत्य के अधिक निकट हैं। बहुतेरे आलोचकों का मत है कि वे सर्वथा व्यक्तिवादी लेखक हैं, किन्तु जहाँ तक कहानी रचना-प्रक्रिया का प्रश्न है, उन्होंने सामाजिक पृष्ठभूमि में भी बहुत कलापूर्ण कहानियाँ दी हैं। उनकी कलात्मक विशेषता है मनोवैज्ञानिक विश्लेषण 'विपथगा' 'परंपरा' 'खिली बोन की बत्तखें' 'कोठरी की बात' आदि उनकी प्रसिद्ध और बहुचर्चित कृतियाँ हैं। सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने में उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि जीवन सत्य की कटुता को ही नहीं उसके उज्ज्वल रूप को निकट से देखा और अन्तरात्मा से अनुभव किया है। विभाजन से उत्पन्न विषम परिस्थितियों के आकलन और जीवन मूल्यों के आकस्मिक परिवर्तनों को उन्होंने एक प्रबुद्ध मानव की भांति बहुत सूक्ष्म दृष्टि से देखा और कहानियों में प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है।

अज्ञेय जी की कतिपय कहानियों में आत्मपरक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बहुत उभरकर आया है। यद्यपि कहीं-कहीं सांकेतिक कला के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति कुछ दुरूह हो गई है, किन्तु जीवन सत्य के उद्-घाटन, आकर्षक शिल्प और स्वस्थ तथा सशक्त संचेतना में कहीं-कहीं वे जैनेन्द्र जी से आगे बढ़ गए हैं और हिन्दी कहानी को सब से समृद्ध

ै

बनाने में उनका बहुत बड़ा हाथ है।

'रोज' अज्ञेय जी की एक उच्चस्तरीय रचना है। मध्यवर्गीय शिक्षित समाज में विवाहित नारी का जो स्थान बन गया है, उसमें उसके अपने निजत्व का विशेष मूल्य नहीं है। स्त्री घर की चार दीवारी में बन्द रह कर निरन्तर स्वामी की आज्ञानुवर्तनी ही नहीं बनी रहती, अपनी अंतरात्मा के वैचारिक उन्मेष को भी स्वामी के आगे समर्पित और अपने आप में विशेष बनकर रहती है। आन्तरिक द्वन्द्व को छिपाकर वह कभी-कभी इतनी जड़ बन जाती है कि उसकी स्वतन्त्र इच्छायें तक धीरे-धीरे गृहस्थ जीवन में समाप्त होकर विलग हो जाती हैं। किसी आत्मीय स्वजन अथवा प्रेमी के आ जाने पर उसकी स्थिति कितनी दयनीय हो जाती है इस परिस्थिति की अभिव्यक्ति इस कहानी में बहुत स्वाभाविक और कलात्मक ढंग से हुई है।

उषादेवी मित्रा

श्रीमती उषादेवी मित्रा जैसा कि उनके नाम से प्रकट है, एक बंग महिला थीं। उनका जन्म जबलपुर में हुआ और शिक्षा कलकत्ते में। उनके माता-पिता अपने जीवन काल में एक साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। उनके पति इंजीनियर थे, जब उनका स्वर्गवास हो गया तो वे जबलपुर में रहने लगीं। उषा जी ने हिन्दी को बहुत सुन्दर और कलात्मक कहानियाँ दी हैं, उनका हृदय बहुत भावपूर्ण था। पात्रों के चित्रण में संवाद के माध्यम से उन्होंने नारी जीवन की जो दर्दनाक पीड़ा व्यक्त की है, उसको पढ़कर कभी-कभी आँसू आ जाते हैं। उन्होंने नारी जीवन के चित्रण में मानवीय दुर्बलता भावप्रवण व्याकुलता और आक्रोशजन्य शक्ति का अपनी कहानियों में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

'समझौता' कहानी में लेखिका ने समन्वयवादी जो दृष्टि
उपस्थित किया है उसमें भारतीय संस्कृति के साथ पाश्चात्य स
का भी समन्वय दृष्टिगत होता है। उनका कथन है कि उच्च म
वर्ग के लोग निम्न मध्यमवर्गीय लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित
में जो बहुत सोच विचार और 'ननुनच' करते हैं, उसका मुख्य का
परिस्थिति का अज्ञान मात्र है। उसमें हृदयहीनता का स्थान नहीं
जो मिट न सके। 'समझौता' कहानी में इस विचार के अनुरूप कथा
की जो कल्पना की गई है, इससे कहानी का अंत बड़ा मर्मस्पर्शी बन
है। यथा—

कुसुम विवर्ण हो उठी। दोनों हाथों से मुँह छिपाकर दूसरे
पल वह भागी। जेठानी पुकारती ही रह गई। उसने कमरे का
भीतर से बन्द कर लिया।

न किन्तु, न परन्तु—अब तो जीवन से समझौता करने की
उसे पड़ गई थी।

मन्नू भण्डारी

मन्नू भण्डरी ने अपनी कहानियों में उन नारियों के चित्र अं
करने में बड़ी सफलता प्राप्त की है, जिन्होंने आधुनिक सभ्यता
अनुरूप जीवन बिताने में नए-नए प्रयोग किये हैं। इस बौद्धिक संघ
में उन्होंने सामाजिक मूल्यों की अवहेलना की है तो उनके दुष्परिण

प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे, बल्कि वह बहुधा बड़े जोर से उनकी निंदा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी न किसी पात्र का पार्ट लेते थे। गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिन्दू सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब के तो वह एक-मात्र उपासक थे। आजकल स्त्रियों को कुटुम्ब में मिल-जुल कर रहने की जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश दोनों के लिए हानिकारक समझते थे। यही कारण था कि गाँव की ललनाएँ उनकी निंदक थीं। कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं। स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था। यह इसलिए नहीं कि उसे अपने सास-ससुर, देवर या जेठ आदि से घृणा थी; बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आये-दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकायी जाय।

आनन्दी एक बड़े उच्च कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल-भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी शिकरे झाड़-फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के योग्य पदार्थ हैं, सभी यहाँ विद्यमान थे। नाम था भूपसिंह। बड़े उदार-चित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे; पर दुर्भाग्य से लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुई और दैवयोग से सब की सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोल कर किये; पर पन्द्रह-बीस हजार रुपयों का कर्ज सिर पर हो गया; तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिया। आनंदी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहनों से अधिक रूपवती और गुणवती थी। इससे ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर सन्तान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्म-

सकट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें ? न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्यहीन समझना पड़े । एक दिन श्रीकंठ उनके पास किसी चन्दे का रुपया माँगने आये । शायद नागरी-प्रचार का चन्दा था । भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूमधाम से श्रीकंठ सिंह का आनन्दी के साथ ब्याह हो गया ।

आनन्दी अपने नये घर में आयी, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा । जिस टीम-टाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहाँ नाम-मात्र को भी न थी । हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुन्दर बहली तक न थी । रेशमी स्लीपर साथ लायी थी; पर यहाँ बाग कहाँ । मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न जमीन पर फर्श, न दीवार पर तस्वीरें । यह एक सीधा-सादा देहाती गृहस्थ का मकान था; किन्तु आनन्दी ने थोड़े ही दिनों में अपने को नयी अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानो उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे ।

२

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारी सिंह दो चिड़ियाँ लिये हुए आया और भावज से बोला—जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है । आनन्दी भोजन बना कर इसकी राह देख रही थी । अब वह नया व्यंजन बनाने बैठी । हाँड़ी में देखा, तो घी पाव-भर से अधिक न था । बड़े घर की बेटी, किफायत क्या जाने । उसने सब घी मांस में डाल दिया । लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था, बोला—दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा ?

आनन्दी ने कहा—घी सब मांस में पड़ गया । लालबिहारी जोर से बोला—अभी परसों घी आया है । इतनी जल्दी उठ गया ?

आनन्दी ने उत्तर दिया—आज तो कुल पाव-भर रहा होगा । वह सब मैंने मांस में डाल दिया ।

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से

बहुधा मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक जाता है। लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई, तिनक कर बोला—मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो !

स्त्री गालियाँ सह लेती है, मार भी सह लेती है, पर मैके की निंदा उनसे नहीं सही जाती। आनन्दी मुँह फेर कर बोली—हाथी मरा भी, तो नौ लाख का। वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं।

लालबिहारी जल गया, थाली उठा कर पटक दी; और बोला—जी चाहता है, जीभ पकड़ कर खींच लूँ।

आनन्दी का भी क्रोध आ गया। मुँह लाल हो गया, बोली—वह होते तो आज इसका मजा चखाते।

अब अपढ़, उजड्ड ठाकुर से न रहा गया। उसकी स्त्री एक साधारण जमींदार की बेटी थी। जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ कर लिया करता था। खड़ाऊँ उठा कर आनंदी की ओर जोर से फेंकी, और बोला—जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी।

आनंदी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी, सिर बच गया; पर उँगली में बड़ी चोट आयी। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गयी। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमंड होता है। आनंदी खून का घूँट पी कर रह गयी।

३

श्रीकंठ सिंह शनिवार को घर आया करते थे। वृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनंदी कोप-भवन में रही। न कुछ खाया न पिया, उनकी बाट देखती रही। अन्त में शनिवार को वह नियमानुकूल संध्या समय घर आये और बाहर बैठ कर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश काल संबंधी समाचार तथा कुछ नये मुकदमों आदि की चर्चा करने लगे

यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनन्द मिलता था कि खाने-पीने की भी सुधि न रहती थी। श्रीकंठ को पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। ये दो-तीन घंटे आनंदी ने बड़े कष्ट से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया। पंचायत उठी। एकांत हुआ, तो लालबिहारी ने कहा– भैया, आप जरा भाभी को समझा दीजिए कि मुँह सँभाल कर बातचीत किया करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायगा।

बेनीमाधव सिंह ने बेटे की ओर साक्षी दी––हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि मर्दों के मुँह लगे।

लालबिहारी—वह बड़े घर की बेटी हैं, तो हम भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं। श्रीकंठ ने चिंतित स्वर से पूछा––आखिर बात क्या हुई?

लालबिहारी ने कहा––कुछ भी नहीं, यों ही आप ही आप उलझ पड़ीं। मैके के सामने हम लोगों को कुछ समझती ही नहीं।

श्रीकंठ खा-पी कर आनंदी के पास गये। वह भरी बैठी थी। यह हजरत भी कुछ तीखे थे। आनंदी ने पूछा––चित्त तो प्रसन्न है?

श्रीकंठ बोले––बहुत प्रसन्न है, पर तुमने आजकल घर में यह क्या उपद्रव मचा रखा है?

आनंदी की तेवरियों पर बल पड गये, झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी। बोली—जिसने तुमसे यह आग लगायी है, उसे पाऊँ, मुँह झुलस दूँ।

श्रीकंठ—इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो।

आनंदी––क्या कहूँ, यह मेरे भाग्य का फेर है! नहीं तो गँवार छोकरा, जिसको चपरासगिरी करने का भी शऊर नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मार कर यों न अकड़ता।

श्रीकंठ––सब हाल साफ-साफ कहो, तो मालूम हो। मुझे तो कुछ

पता नहीं ।

आनंदी—परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे माँस पकाने को कहा। घी हांडी मे पाव-भर से अधिक न था। वह सब मैंने माँस में डाल दिया। जब खाने बैठा तो कहने लगा—दाल में घी क्यों नहीं है ? बस, इसी पर मेरे मैके को बुरा-भला कहने लगा। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा कि वहाँ इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं, और किसी को जान भी नहीं पड़ता। बस इतनी सी बात पर इस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेंक मारी। यदि हाथ से न रोक लूँ, तो सिर फट जाय। उसी से पूछो, मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ !

श्रीकंठ की आँखें लाल हो गयीं। बोले—यहाँ तक हो गया, इस छोकरे का यह साहस !

आनंदी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी; क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकंठ बड़े धैर्यवान और शांत पुरुष थे। उन्हें कदाचित ही कभी क्रोध आता था; पर स्त्रियों के आँसू पुरुष की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रातःकाल अपने बाप के पास जा कर बोले—दादा, अब इस घर में मेरा निबाह न होगा।

इस तरह की विद्रोह-पूर्ण बातें कहने पर श्रीकंठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया था, परन्तु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वे ही बातें अपने मुँह से कहनी पड़ीं ! दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है।

बेनीमाधव सिंह घबरा उठे और बोले—क्यों ?

श्रीकंठ—इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिए, वे उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का नौकर

ठहरा, घर पर रहता नहीं। यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिंता नहीं। कोई एक की दो कह ले, वहाँ तक मैं सह सकता हूँ किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूँसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।

बेनीमाधव सिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकंठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देख कर बूढ़ा ठाकुर अवाक् रह गया। केवल इतना ही बोला—बेटा, तुम बुद्धिमान हो कर ऐसी बातें करते हो? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती हैं। उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।

श्रीकंठ—इतना मैं जानता हूँ, आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने-बुझाने से, इसी गाँव में कई घर सँभल गये, पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का ईश्वर के दरबार में उत्तर-दाता हूँ उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दंड नहीं देता।

अब बेनीमाधव सिंह भी गरमाये। ऐसी बातें और न सुन सके। बोले—लालबिहारी तुम्हारा भाई है। उससे जब कभी भूल-चूक हो, उसके कान पकड़ो लेकिन······

श्रीकंठ—लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।

बेनीमाधव सिंह—स्त्री के पीछे?

श्रीकंठ—जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।

दोनों कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शांत करना चाहते थे, लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने को तैयार हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनों पक्षों की

मधुर बाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्माएँ तलमलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीतिपूर्ण गति पर मन ही मन जलते थे। वे कहा करते थे—श्रीकंठ अपने बाप से दबता है, इसीलिए वह दब्बू है। उसने विद्या पढ़ी, इसलिए वह किताबों का कीड़ा है। बेनीमाधव सिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभ कामनाएँ आज पूरी होती दिखायी दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आ कर बैठ गया। बेनीमाधव सिंह पुराने आदमी थे। इन भावों को ताड़ गये। उन्होंने निश्चय किया चाहे कुछ ही क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरन्त कोमल शब्दों में बोले—बेटा, मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ, तुम्हारा जी जो चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।

इलाहाबाद का अनुभव-रहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका। उसे डिबेटिंग-क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकंडों की उसे क्या खबर? बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी, वह उसकी समझ में न आया। बोला—मैं लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता।

बेनीमाधव—बेटा, बुद्धिमान लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं देते। वह बेसमझ लड़का है। उससे जो कुछ भूल हुई, उसे तुम बड़े हो कर क्षमा करो।

श्रीकंठ—उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता। या तो वही घर में रहेगा, या मैं ही। आपको यदि वह अधिक प्यारा है, तो मुझे विदा कीजिए, मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं तो उससे कहिए, जहाँ चाहे चला जाय। बस यह मेरा अन्तिम निश्चय है।

लालबिहारी सिंह चुपचाप दरवाजे की चौखट पर खड़ा बड़े भाई की बातें सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस न हुआ था कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी

ते या पान खा ले। बाप का भी वह इतना मान न करता था। श्रीकंठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश मे उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब वह इलाहाबाद से आते, तो उसके लिए कोई न कोई वस्तु अवश्य लाते। मुगदर की जोड़ी उन्होंने ही बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से ड्योढ़े जवान को नागपचमी के दिन दंगल मे पछाड दिया, तो उन्होने पुलकित होकर अखाड़े में ही जा कर उसे गले से लगा लिया था; पाँच रुपये के पैसे लुटाये थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदय-विदारक बात सुन कर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूट कर रोने लगा। इसमे सन्देह नहीं कि अपने किये पर पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ भैया क्या कहते हैं। मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा, उनसे कैसे बोलूँगा, मेरी आँखें उनके सामने कैसे उठेंगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुला कर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था। परन्तु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि श्रीकंठ उसे अकेले मे बुला कर दो-चार कड़ी बातें कह देते; इतना ही नहीं, दो-चार तमाचे भी लगा देते तो कदाचित उसे इतना दुःख न होता, पर भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नही देखना चाहता, लालबिहारी से सहा न गया। वह रोता हुआ घर आया। कोठरी में जा कर कपड़े पहने, आँखें पोंछी, जिसमें कोई यह न समझे कि रोता था। तब आनदी के द्वार पर आकर बोला—भाभी, भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। अब वह मेरा मुँह नही देखना चाहते, इसलिए अब मैं जाता हूँ उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा! मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना।

यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया।

४

जिस समय लालबिहारी सिंह सिर झुकाये आनन्दी के द्वार पर खड़ा था, उसी समय श्रीकंठ सिंह भी आँखें लाल किये बाहर से आये । भाई को खड़ा देखा, तो घृणा से आँखें फेर लीं, और कतरा कर निकल गये । मानो उसकी परछाहीं से दूर भागते हों ।

आनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी, लेकिन अब मन में पछता रही थी । वह स्वभाव से ही दयावती थी । उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी । वह मन मे अपने पति पर झुंझला रही थी कि वह इतने गरम क्यों होते हैं । उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें, तो कैसे क्या करूँगी । इस बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाजे पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया । वह रोने लगी । मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है ।

श्रीकंठ को देख कर आनन्दी ने कहा-लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकंठ—तो मैं क्या करूँ ?

आनन्दी—भीतर बुला लो । मेरी जीभ में आग लगे ! मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया ।

श्रीकंठ—मैं न बुलाऊँगा ।

आनन्दी—पछताओगे । उन्हें बहुत ग्लानि हो गयी है, ऐसा न हो, कहीं चल दें ।

श्रीकंठ न उठे । इतने में लालबिहारी ने फिर कहा—भाभी, भैया से मेरा प्रणाम कह दो । वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते, इसलिए मैं भी अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा ।

लालबिहारी इतना कह कर लौट पड़ा, और शीघ्रता से दरवाजे की ओर बढ़ा । अन्त में आनन्दी कमरे से निकली और उसका हाथ पकड़ लिया ।

लालबिहारी ने पीछे फिर कर देखा और आँखों में आँसू भरे बोला—मुझे जाने दो।

आनन्दी—कहाँ जाते हो ?

लालबिहारी—जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे ।

आनन्दी—मैं न जाने दूँगी ?

लालबिहारी—मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ ।

आनन्दी—तुम्हें मेरी सौगन्ध, अब एक पग भी आगे न बढ़ना ।

लालबिहारी—जब तक मुझे यह न मालूम हो जाय कि भैया का मन मेरी तरफ से साफ हो गया, तब तक मैं इस घर मे कदापि न रहूँगा ।

आनन्दी—मैं ईश्वर को साक्षी दे कर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन मे तनिक भी मैल नही है।

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला । उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया । दोनों भाई खूब फूट-फूट कर रोये । लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा–भैया, अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दण्ड देंगे, मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा ।

श्रीकंठ ने काँपते हुए स्वर से कहा—लल्लू ! इन बातों को बिल्कुल भूल जाओ । ईश्वर चाहेगा, तो फिर ऐसा अवसर न आवेगा ।

बेनीमाधव सिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देख कर आनन्द से पुलकित हो गये । बोल उठे—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं । बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं ।

गाँव में जिसने यह वृत्तांत सुना, उसी ने इन शब्दों मे आनन्दी की उदारता को सराहा—'बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं ।'

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो "

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो ।"

"फिर अवसर न मिलेगा ।"

'बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बंधन शिथिल हैं ?"

"तो क्या तुम बन्दी हो ?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगी। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा—स्नेह का असम्भावित आलिगन। दोनों ही अन्धकार में मुक्त हो गए। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से, उसको गले से लगा लिया। सहसा उस बन्दी ने कहा—"यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है ?" अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है ? तुम्हारा नाम ?"

"चम्पा।"

तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अन्धकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकाल कर फिर लुढ़कते हुए, बन्दी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथप्रदर्शक ने चिल्ला कर कहा—"आँधी!"

आपत्तिसूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। वन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बन्दी लुढ़क कर उस रज्जु के पास पहुँचा जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गए। तरंगें उद्वेलित हुईं। समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कदुक-क्रीडा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों बंदी खिलखिला कर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

२

अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शान्त था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बन्दी मुक्त हैं।

नायक ने कहा—"बुद्धगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखाकर बुद्धगुप्त ने कहा—"इसने।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊँगा।"

"किसके लिए? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा—नायक! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम? जलदस्यु बुद्धगुप्त? कदापि नहीं।"—चौंककर नायक ने कहा और अपना कृपाण टटोलने लगा। चम्पा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ, जो विजयी होगा, वही स्वामी होगा।"–इतना कह, बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण देने का संकेत किया। चम्पा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गति-वाले थे। बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिये। चम्पा, भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गये, परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कातर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं।

बुद्धगुप्त ने कहा–"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं ?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात न करूँगा।"

बुद्धगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिन्दु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त ने पूछा–"हम लोग कहाँ होंगे ?"

'बालीद्वीप से बहुत दूर, सम्भवत एक नवीन द्वीप के पास, जिसमे अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों मे हम लोग वहाँ पहुँचेंगे ?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़ कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा–"यहाँ एक

जलमग्न शैलखंड है । सावधान न रहने से नाव के टकराने का भय है ।"

३

"तुम्हें इन लोगों ने बंदी क्यों बनाया ?"

"वणिक मणिभद्र की पाप-वासना ने ।"

"तुम्हारा घर कहां है ?"

"जाह्नवी के तट पर,चम्पा-नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ । पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे । माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी । आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है । तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जलसमाधि ली । एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनंतता में निस्सहाय हूँ । अनाथ हूँ ।मणि-भद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया । मैंने उसे गालियां सुनाईं । उसी दिन से बंदी बना दी गई ।" चम्पा रोष से जल रही थी ।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ चम्पा ! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ । अब तुम क्या करोगी ?"

'मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी । वह जहाँ ले जाय ।" –चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं । किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे । धवल अपांग में बालकों के सदृश विश्वास था । हत्या व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर कांप गया । उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी । समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी राग-रंजित सन्ध्या थिरकने लगी । चम्पा के असंयत कुंतल उसकी पीठ पर बिखरे थे । दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण-बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा । उसे एक नई वस्तु का पता चला । वह थी–कोमलता !

उसी समय नायक ने कहा—'हमलोग द्वीप के पास पहुँच गए ।"

वेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उत
बुद्धगुप्त ने कहा—"जब इसका कोई नाम नहीं है तो हम लोग इसे चम्प
द्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

४

पाँच बरस बाद—

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चंद्र के उज्ज्वल
विजय पर अंतरिक्ष में शरद्‌लक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों क
बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्च सौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रह
थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मंजूषा में दीप धरकर उसने अपनी सुकुमा
उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोल
आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई
चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिलमिल जाय
किन्तु वैसा होना असंभव था। उसने आशा-भरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशि का रजत शृंगार था। वरुण-बालिकाओं के लि
लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैलमालाएँ बना रही थीं। और
मायाविनी छलनाएँ अपनी हँसी का कलनाद छोड़ कर छिप जाती थीं
दूर-दूर से धीवरों की वंशी की झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था
चम्पा ने देखा कि तरल संकुल जल-राशि में उसके कंदील का प्रतिबिम
अस्त-व्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था
वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा-"जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। जंगली थी। नील नभो
मंडल से मुख में शुद्ध नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते
वह चम्पा को रानी कहती, बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।" चम्पा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चम्पा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसने फिरकर कहा—"बुद्धगुप्त!"

"बावली हो क्या। यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाश-दीप जलाऊँ?"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान मान लिया है?"

"हाँ, वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस दीप की अधीश्वरी चम्पा रानी!"

"मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में—तारकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी! बुद्धगुप्त! उस विजन अनन्त में जब मांझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम तुम परिश्रम से थककर पालों में शरीर लपेटकर एक दूसरे का मुँह क्यों देखते थे। वह नक्षत्रों की मधुर छाया—"

"तो चम्पा! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचार सकते हैं।

तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं नहीं, तुमने दस्युवृत्ति तो छोड़ दी परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो! मेरे आकाश-दीप पर व्यंग कर रहे हो। नाविक! उस प्रचंड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे–मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में जलाकर भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। इस समय वह प्रार्थना करती–"भगवान्! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अन्धकार में ठीक पथ पर ले चलना।" और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते–"साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक संकटों में मेरी रक्षा की है।" वह गद-गद् हो जाती। मेरी मा! आह नाविक! यह उसी की स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु! हट जाओ!"–सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा।

"यह क्या चम्पा! तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।"–कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

५

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकराकर लहरें बिखर जाती हैं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शांत गंभीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गई। तरंग से उठते पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया।

जया नाव मेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

"इतना जल! इतनी शीतलता! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं। तो जैसे वेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनत जल मे डूबकर बुझ जाऊँ?"–चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु मे, चौथाई–आधा फिर संपूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निःश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फिरा लिया। देखा तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुद्धगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गए।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नही। पास ही वह जलमग्न शैल खंड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ जाती, चम्पा, तो?"

"अच्छा होता बुद्धगुप्त! जल मे बदी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है!"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो! बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिए नए द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नए राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो ······। कहो चम्पा! वह कृपाण से अपना हृदय-पिण्ड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे!" महानाविक– जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था–घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल-प्रदेश मे नील पिंगल सध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्न, लोक का सृजन करने लगी। उस मोहनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि

कथा-वीथी

नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का, किन्तु उस परिरंभ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"—चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज मैं विश्वास करूँ? मैं क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य कम्पित कंठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास? कदापि नहीं बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ। मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।"—चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तम से अपनी आँखें बंद करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा चम्पा! यहीं उस पहाड़ी पर। संभव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाय!"

६

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। बहुत दूर तक सिन्धुजल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाए था। आज उसी शैलमाला पर चम्पा के आदि निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चम्पा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत से सैनिक और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के

लिए सुदृढ़ दीप-स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुद्ध-गुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा-"यह क्या है जया?–इतनी बालिकाएँ कहाँ से बटोर लाईं?"

"आज रानी का ब्याह है न?"–कह कर जया ने हँस दिया।

बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोर कर चम्पा ने पूछा–"क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है चम्पा! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाए हूँ।"

"चुप रहो महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती! बुद्धगुप्त वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय! आह! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते!"

जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्धगुप्त और चम्पा एकांत में एक दूसरे के सामने बैठे थे।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिए। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा–"चम्पा! हम लोग जन्मभूमि भारतवर्ष से इतनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किए है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का

देखा ! वह महिमा की प्रतिमा ! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता ? जानती हो, इतना महत्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्त-मणि की तरह द्रवित हुआ ।

"चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता । पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है । तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो । आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़तम में मुस्कराने लगी । पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी, पर मैं न हँस सका ।

"चलोगी चम्पा ! पोतवाहिनी पर असंख्य धन-राशि लाद कर राज-रानी-सी जन्मभूमि के अंक में ? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें । महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिंधु की लहरें मानती हैं । वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी । आह चम्पा ! चलो ।"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिए । किसी आकस्मिक झटके ने एक पल भर के लिए दोनों के अधरों को मिला दिया । सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा--"बुद्धगुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है । कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं । सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है । प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए ।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चम्पा ! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँगा---इसमें सन्देह है । आह ! किन लहरों में मेरा

विनाश हो जाय !"—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी ?

"पहले विचार था कि कभी-कभी इसी दीप-स्तम्भ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।"

७

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महा जल व्याल के समान संतरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ मे आलोक जलाती ही रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, द्वीप-निवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश उसकी पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया।

चतुरसेन शास्त्री | दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी

गर्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के सब झंझटों से दूर रहकर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने, वह सलीमा को लेकर काश्मीर के दौलतखाने में चले आये थे।

रात दूध मे नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ से सफ़ेद होकर चाँदनी में बाहर दिखा रही थीं। आरामबाग के महलों के नीचे पहाड़ी नदी बल खाकर बह रही थी।

मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौन्दर्य निहार रही थी। खुले हुये बाल उसकी फीरोजी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुथी हुई उस फिरोजी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमख्वाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर, अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमर्मर के समान पैरों में जारी के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक बेशकीमती ईरानी कालीन का फर्श बिछा हुआ था, जो पैर रखने ही हाथ-भर नीचे धँस जाता था। सुगन्धित मसालों से बने हुये शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे कद के आइने लगे थे। संगमर्मर के आधारों पर सोने चाँदी के फूलदानों में, ताजे फूलों के गुलदस्ते रखे थे। दीवारों और दरवाजों पर चतुराई से गूँथी हुई नागकेसर और चम्पे की मालाएँ

मूल रही थीं, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे मे अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की वस्तुएँ करीने से सजी हुई थीं।

बादशाह दो दिन से शिकार को गए थे। आज इतनी रात हो गई, अभी तक नहीं आये। सलीमा चादनी मे दूर तक आँखे बिछाये सवारो की गर्द देखनी रही। आखिर उससे न रहा गया। वह खिड़की से उठकर, अनमनी-सी होकर मसनद पर आ बैठी। उम्र और चिन्ता की गर्मी जब उससे सहन न हुई, तब उसने अपनी चिकन की ओढ़नी भी उतार फेंकी, और आप ही आप झुँझलाकर बोली–"कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब क्या करूँ?" इसके बाद उसने पास रक्खी बीन उठा ली। दो चार उँगली चलाईं, मगर स्वर न मिला। उसने भुनभुना कर कहा–"मर्दों की तरह यह भी मेरे वश मे नहीं है।" सलीमा ने उकता कर उसे रखकर दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता हाजिर हुई।

बाँदी अत्यन्त सुन्दरी और कमसिन थी। उसके सौन्दर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों मे नैराश्य की स्याही थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा–"साकी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी?"

बाँदी ने नम्रता से कहा–"हुजूर जिसमे खुश हो।"

सलीमा ने कहा–"पर तू किसमे खुश है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर मे कहा–"सरकार बाँदियों की खुशी ही क्या?"

क्षण भर सलीमा ने बाँदी के मुँह की तरफ देखा–वैसा ही विषाद, निराशा और व्याकुलता का मिश्रण हो रहा था।

सलीमा ने कहा–"मैं क्या तुझे बाँदी की नजर से देखती हूँ?"

"नहीं, हुजरत की तो लौंडी पर खास मेहरबानी है।"

"तब तू इतनी उदास, झिझकी हुई और एकान्त मे क्यों रहती है? जब से तू नौकर हुई है, ऐसी ही देखती हूँ! अपनी तकलीफ मुझसे तो कह प्यारी साकी!"

इतना कहकर सलीमा ने उसके पास खिसक कर उसका हाथ पकड़ लिया।

बाँदी काँप गई, पर बोली नहीं।

सलीमा ने कहा—"साकिया! तू अपना दर्द मुझसे कह, तू इतनी उदास क्यों रहती है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर से कहा—"हुजूर क्यों इतनी उदास रहती हैं?"

सलीमा ने कहा—"इधर जहाँपनाह कुछ कम आने लगे हैं। इसी से तबीयत जरा उदास रहती है।"

बाँदी—"सरकार! प्यारी चीज न मिलने से इन्सान को उदासी आ ही जाती है, अमीर और गरीब, सभी का दिल तो दिल ही है।"

सलीमा हँसी। उसने कहा—"समझी, अब तू किसी को चाहती है? मुझे उसका नाम बता, मैं उसके साथ तेरी शादी करा दूँगी।"

साकी का सिर घूम गया। एकाएक उसने बेगम की आँखों से आँख मिलाकर कहा—"मैं आपको चाहती हूँ।"

सलीमा हँसते-हँसते लोट गई। उस मदमाती हँसी के वेग में उसने बाँदी का कम्पन नहीं देखा। बाँदी ने वंशी लेकर कहा—"क्या सुनाऊँ?"

बेगम ने कहा—"ठहर, कमरा बहुत गर्म मालूम देता है। इसके तमाम दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दे। चिरागों को बुझा दे, चटखती चाँदनी का लुत्फ उठाने दे, और वे फूल-मालायें मेरे पास रख दे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली—"सुन, पहले एक ग्लास शरबत दे, बहुत प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के ग्लास में खुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा—"उफ् यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"दिया तो है सरकार!"

"अच्छा, इसमें थोड़ा-सा इस्तम्बोल और मिला।"

साकी ग्लास लेकर दूसरे कमरे मे चली गई। इस्तम्बोल मिलाया, और भी एक चीज मिलाई। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही साँस में उसे पीकर बेगम ने कहा–"अच्छा, अब सुना। तूने कहा था कि तू मुझे प्यार करती है, सुना कोई प्यार का गाना, सुना।"

इतना कह और ग्लास को गलीचे पर लुढ़का कर मदमाती सलीमा उस कोमल मखमली मसनद पर खुद भी लुढ़क गई, और रसभरे नेत्रों से साकी की ओर देखने लगी। साकी ने बंशी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया–

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी...'

बहुत देर तक साकी की बंशी और कंठ-ध्वनि कमरे मे घूम-घूमकर रोती रही। धीरे-धीरे साकी खुद रोने लगी। सलीमा मदिरा और यौवन के नशे मे होकर झूमने लगी।

गीत खतम करके साकी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख हो गये हैं, और तम्बूल-राग-रंजित होठ रह-रहकर फड़क रहे है। साँस की सुगंध से कमरा महक रहा है। जैसे मंद पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षःस्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश मे, मोतियों की तरह चमक रही हैं।

बंशी रखकर साकी क्षण-भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर काँपा, आँखें जलने लगी, कंठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठकर बहुत धीरे-धीरे अपने आँचल से बेगम के मुख का पसीना पोंछने लगी। इसके बाद उसने झुककर बेगम का मुँह चूम लिया।

इसके बाद ज्यो ही उसने अचानक आँख उठाकर देखा, खुद दीन-दुनिया के मालिक शाहजहाँ खड़े उसकी यह करतूत अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

कथा-वीथी

साकी को साप डस गया। वह हत-बुद्धि की तरह बादशाह का मुँह ताकने लगी। बादशाह ने कहा—"तू कौन है? और यह क्या कर रही थी?"

साकी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा—"जवाब दे!"

साकी ने धीमे स्वर में कहा—"जहाँपनाह! कनीज अगर कुछ जवाब न दे, तो?"

बादशाह सन्नाटे मे आ गए। बादी की इतनी स्पर्द्धा!

उन्होंने कहा—"मेरी बात का जवाब नहीं? अच्छा तुझे नंगी करके कोड़े लगाए जायँगे!"

साकी ने कम्पित स्वर मे कहा—"मैं मर्द हूँ!"

बादशाह की आँखों मे सरसों फूल उठी। उन्होंने अग्निमय नेत्रों से सलीमा की ओर देखा। वह बेसुध पड़ी सो रही थी। उसी तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उनके मुँह से निकाला—'उफ फाहशा!" और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर गया। फिर नीचे को उन्होंने घूम-कर कहा—'दोजख के कुत्ते! तेरी यह मजाल!"

फिर कठोर स्वर से पुकारा—"मादूम।"

क्षण-भर में एक भयकर रूप वाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादशाह ने हुक्म दिया—"इस मर्दूद को तहखाने में डाल दे, ताकि बिना खाए-पिए मर जाय।"

मादूम ने अपने कर्कश हाथो में युवक का हाथ पकड़ा और ले चली। थोड़ी देर मे दोनों एक लोहे के मजबूत दरवाजे के पास आ खड़े हुए। तातारी बाँदी ने चाभी निकाल कर दरवाजा खोला, और कैदी को भीतर ढकेल दिया। कोठरी की गच कैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही काँपती हुई नीचे को खसकने लगी।

(२)

प्रभात हुआ। सलीमा की बेहोशी दूर हुई। चौंक कर उठ बैठी। बाल

सँवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली के बटन कसने को आईने के सामने जा खड़ी हुई। खिड़कियाँ बन्द थीं। सलीमा ने पुकारा–"साकी ! प्यारी साकी ! बड़ा गर्मी है, जरा खिड़की तो खोल दे। निगोड़ी नींद ने तो आज गजब ढा दिया। शराब कुछ तेज थी।"

किसी ने सलीमा की बात न सुनी। सलीमा ने जरा जोर से पुकारा–"साकी !"

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई। वह खुद खिड़कियाँ खोलने लगी। मगर खिड़कियाँ बाहर से बन्द थीं। सलीमा ने विस्मय से मन ही-मन कहा-"बात क्या है ? लौंडियाँ सब क्या हुईं ?"

वह द्वार की तरफ चली। देखा, एक तातारी बाँदी नंगी तलवार लिए पहरे पर मुस्तैद खड़ी है। बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया।

सलीमा ने क्रोध से कहा–'तुम लोग यहाँ क्यों हो ?'

"बादशाह के हुक्म से।"

"क्या बादशाह आ गए ?"

"जी हाँ।'

'मुझे इत्तिला क्यों नहीं की ?"

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं ?"

"जीनतमहल के दौलतखाने में।"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा–"ठीक है, खूबसूरती की हाट में जिनका कारबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे ? तो अब जीनतमहल की किस्मत खुली ?"

तातारी स्त्री चुपचाप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली–',मेरी साकी कहाँ है ?"

"कैद में।"

"क्यों ?"

"जहाँपनाह का हुक्म ।"

"उसका कुसूर क्या था ?"

"मैं अर्ज नहीं कर सकती ।"

"कैदखाने की चाभी मुझे दे, मैं अभी उसे छुड़ाती हूँ ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है ।"

"तब क्या मैं भी कैद हूँ ?"

"जी हाँ ।"

सलीमा की आँखों में आँसू भर आए । वह लौट कर मसनद पर पड़ गई, और फूट-फूटकर रोने लगी । कुछ ठहर कर उसने एक खत लिखा–

"हुजूर ! मेरा कुसूर माफ फर्मावें । दिन-भर की थकी होने से ऐसी बेसुध सो गई की हुजूर के इस्तकबाल मे हाजिर न रह सकी । और मेरी उस प्यारी लौंडी की भी जाँ-बख्शी की जाय । उसने हुजूर के दौलतखाने में लौट आने की इत्तिला मुझे वाजिबी तौर पर न देकर बेशक भारी कुसूर किया है । मगर वह नई, कमसिन, गरीब और दुखिया है ।

कनीज
सलीमा ।"

चिट्ठी बादशाह के पास भेज दी गई । बादशाह की तबीयत बहुत ही नासाज़ थी । तमाम हिन्दुस्तान के बादशाह की औरत फाहशा निकले ! बादशाह अपनी आँखो से पर पुरुष को उसका मुँह चूमते देख चुके थे । वह गुस्से से तलमला रहे थे, और गम गलत करने को अंधाधुंध शराब पी रहे थे । जीनतमहल मौका देखकर सौतियाडाह का बुखार निकाल रही थी । तातारी बाँदी को देखकर बादशाह ने आग होकर कहा–"क्या लाई है ?"

बाँदी ने दस्तबस्ता अर्ज की–"खुदावन्द ! सलीमा बीबी की अर्जी है ।"

इतना कहकर उसने सामने खत रख दिया ।

बादशाह ने गुस्से से होठ चबाकर कहा—"उससे कह दे कि मर जाय।" इसके बाद खत मे एक ठोकर मारकर उन्होंने उधर से मुँह फेर लिया।

बांदी लौट आई। बादशाह का जवाब सुनकर सलीमा धरती पर बैठ गई। उसने बाँदी को बाहर जाने का हुक्म दिया और दरवाजा बन्द करके फूट-फूट कर रोई। घन्टो बीत गए, दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा—"हाय! बादशाहों की बेगम होना भी क्या बदनसीबी है! इन्तजारी करते-करते आँख फूट जाँय, मिन्नतें करते-करते जबान घिस जाय, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जाय, फिर भी इतनी सी बात पर कि मैं जरा सो गई, उनके आने पर जाग न सकी, इतनी सजा? इतनी बेइज्जती?

"तब मैं बेगम क्या हुई? जीनत और बाँदियाँ सुनेंगी तो क्या कहेंगी। इस बेइज्जती के बाद मुँह दिखाने लायक कहाँ रही? अब तो मरना ही ठीक है। अफसोस मैं किसी गरीब किसान की औरत क्यों न हुई!"

धीरे-धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा मे उदय हुआ। गर्व और दृढ़ प्रतिज्ञा के चिह्न उसके नेत्रों मे छा गए। वह साँपिन की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई। उसने एक और खत लिखा—

"दुनिया के मालिक! आपकी बीबी और कनीज होने की वजह से, मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूँ। इतनी बेइज्जती पाकर एक मलिका का मरना मुनासिब है। मगर इतने बड़े बादशाह को औरतों को इस कदर नाचीज तो न समझना चाहिए कि एक अदना-सी बेवकूफी की इतनी बड़ी सजा दी जाय। मेरा कुसूर सिर्फ इतना ही था कि मैं बेखबर सो गई थी। खैर, फिर एक बार हुजूर को देखने की ख्वाहिश लेकर मरती हूँ। मैं उस पाक परवरदिगार के पास जाकर अर्ज करूँगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रक्खे।

सलीमा"

खत को इत्र से सुवासित करके ताजे फूलों के एक गुलदस्ते मे इस तरह

रख दिया कि जिसमें किसी की उस पर फौरन नजर पड़ जाय। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अँगूठी निकाली, और कुछ देर तक और गड़ा-गड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गई।

(२)

बादशाह शाम की हवाखोरी को नजर-बाग में टहल रहे थे। दो-तीन खोजे घबराए हुए आए, और चिट्ठी पेश करके अर्ज की—"हुजूर गजब हो गया! सलीमा बीबी ने जहर खा लिया है, और वह मर रही हैं।"

क्षण भर में बादशाह ने खत पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल में पहुँचे। प्यारी दुलहिन सलीमा जमीन में पड़ी है। आँखें ललाट पर चढ़ गई हैं। रंग कोयले के समान हो गया है। बादशाह से रहा न गया। उन्होंने घबरा कर कहा—"हकीम, हकीम को बुलाओ!" कई आदमी दौड़े।

बादशाह का शब्द सुनकर सलीमा ने उनकी तरफ देखा, और धीमे स्वर में कहा—"जहे किस्मत।"

बादशाह ने नजदीक बैठकर कहा—"सलीमा बादशाह की बेगम होकर क्या तुम्हें यही लाजिम था?"

सलीमा ने कष्ट से कहा—"हुजूर मेरा कुसूर बहुत मामूली था।"

बादशाह ने कड़े स्वर से कहा—"बदनसीब! शाही जनानखाने में मर्द को वेष बदलकर रखना मामूली कुसूर समझती है? कानों पर यकीन कभी न करता, मगर आँखों देखी को भी झूठ मान लूँ?"

जैसे हजारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से आदमी तड़पता है, उसी तरह तड़पकर सलीमा ने कहा—"क्या?"

बादशाह डरकर पीछे हट गए। उन्होंने कहा—"सच कहो, इस वक्त तुम खुदा की राह पर हो, यह जवान कौन था?"

सलीमा ने अकचका कर पूछा—"कौन जवान?"

बादशाह ने गुस्से से कहा—"जिसे तुमने साकी बनाकर पास रक्खा था।"

सलीमा ने घबराकर कहा—"है ! क्या वह मर्द है ?"

बादशाह—"तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं !"

सलीमा के मुँह से निकला—"या खुदा ।"

फिर उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे । वह सब मामला समझ गई । कुछ देर बाद बोली—"खाविन्द ! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं; इस कुसूर की तो यही सजा मुनासिब थी । मेरी बदगुमानी माफ फर्माई जाय । मैं अल्लाह के नाम पर सच कहती हूँ, मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं है।"

बादशाह का गला भर आया । उन्होंने कहा—"तो प्यारी सलीमा ! तुम बेकुसूर ही चलीं ?" बादशाह रोने लगे ।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रखकर कहा—"मालिक मेरे ! जिसकी उम्मीद न थी मरते वक्त वह मजा मिल गया । कहा-सुना माफ हो और एक अर्ज लौंडी की मंजूर हो ।"

बादशाह ने कहा—"जल्दी कहो सलीमा !"

सलीमा ने साहस से कहा—"उस जवान को माफ कर देना ।'

इसके बाद सलीमा की आँखों से आँसू बह चले और थोड़ी ही देर में वह ठंडी हो गई !

बादशाह ने घुटनों के बल बैठकर उसका ललाट चूमा, और फिर बालक की तरह रोने लगे ।

(४)

गजब के घर्रे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था । एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़े खुले । प्रकाश के साथ ही एक गम्भीर शब्द तहखाने में भर गया—"बदनसीब नौजवान ! क्या होश-हवास में है ?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा—"कौन ?"

जवाब मिला—"बादशाह ।"

युवक ने कुछ भी अदब किए बिना कहा—"यह जगह बादशाहों के

जैनेन्द्रकुमार | तत्सत्

एक गहन वन मे दो शिकारी पहुँचे। वे पुराने शिकारी थे। शिकार की टोह में दूर-दूर घूम रहे थे, लेकिन ऐसा घना जगल उन्हें नहीं मिला था। देखते जी में दहशत होती थी। वहाँ एक बड़े पेड की छाँह मे उन्होंने वास किया और आपस मे बातें करने लगे।

एक ने कहा, "आह, कैसा भयानक जगल है।"

दूसरे ने कहा, "और कितना घना !"

इसी तरह कुछ देर बात करके और विश्राम करके वे शिकारी आगे बढ गये।

उनके चले जाने पर पास के शीशम के पेड़ ने बड़ से कहा, "बड़ दादा अभी तुम्हारी छाँह में ये कौन थे ? वे गये ?"

बड़ ने कहा, "हाँ गये। तुम उन्हें नहीं जानते हो ?"

शीशम ने कहा, "नहीं, वे बडे अजब मालूम होते थे। कौन थे, दादा ?"

दादा ने कहा, "जब छोटा था, तब इन्हें देखा था। इन्हें आदमी कहते हैं। इनमें पत्ते नहीं होते, तना ही तना होता है। देखा, वे चलते कैसे हैं ? अपन तने की दो शाखों पर ही चलते चले जाते हैं"

शीशम—"ये लोग इतने ही ओछे रहते हैं ऊँचे नहीं उठते, क्यों दादा ?"

बड़ दादा ने कहा, "हमारी तुम्हारी तरह इनमें जड़ें नही होतीं। बढ़ें तो काहे पर ? इससे वे इधर-उधर चलते रहते हैं, ऊपर की ओर बढ़ना उन्हें नहीं आता। बिना जड़ न जाने वे जीते किस तरह हैं !"

इतने में बबूल, जिसमे हवा साफ छनकर निकल जाती थी, रुकती नहीं थी और जिसके तन पर काँटे थे, बोला, "दादा, ओ दादा, तुमने बहुत दिन

लायक नहीं है—क्यों तशरीफ लाए हैं ?"

"तुम्हारी कैफियत नहीं सुनी थी, उसे सुनने आया हूँ ।"

कुछ देर चुप रहकर युवक ने कहा—"*सिर्फ सलीमा को झूठी बद*
से बचाने के लिए कैफियत देता हूँ, सुनिए—सलीमा जब बच्ची थी, मैं उ
बाप का नौकर था । तभी से मैं उसे प्यार करता था । सलीमा भी प्
करती थी, पर वह बचपन का प्यार था । उम्र होने पर सलीमा पर
रहने लगी, और फिर वह शाहंशाह की बेगम हुई । मगर मैं उसे भूल
सका । पाँच साल तक पागल की तरह भटकता रहा । अंत में भेष बदल
बाँदी की नौकरी कर ली । सिर्फ उसे देखते रहने और खिदमत करके
गुजार देने का इरादा था । उस दिन उज्ज्वल चाँदनी, सुगंधित पुष्प-रा
शराब की उत्तेजना और एकांत ने मुझे बेबस कर दिया । उसके बाद
आँचल से उसके मुख का पसीना पोंछा, और मुँह चूम लिया । मैं इतना
खतावार हूँ । सलीमा इसकी बाबत कुछ नहीं जानती ।"

बादशाह कुछ देर चुप-चाप खड़े रहे । इसके बाद वह दरवाजा ब
किए बिना ही धीरे-धीरे चले गए ।

(५)

सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गए । बादशाह सलीमा के कम
में ही दिन-रात रहते हैं । सामने नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में सली
की सफ़ेद कब्र बनी है । जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस दिन रा
को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में उसी चौकी प
बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की कब्र दिन-रात देखा करते हैं । किस
को पास आने का हुक्म नहीं । जब आधी रात हो जाती है, तो उस गम्भी
रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म-भेदिनी गीत-ध्वनि उठ खड़ी होती है । बादशा
साफ-साफ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर में गा रहा है—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी ।"

जैनेन्द्रकुमार | तत्सत्

एक गहन वन में दो शिकारी पहुँचे। वे पुराने शिकारी थे। शिकार की टोह में दूर-दूर घूम रहे थे, लेकिन ऐसा घना जंगल उन्हें नहीं मिला था। देखते जी में दहशत होती थी। वहाँ एक बड़े पेड़ की छाँह में उन्होंने वास किया और आपस में बातें करने लगे।

एक ने कहा, "आह, कैसा भयानक जंगल है।"

दूसरे ने कहा, "और कितना घना!"

इसी तरह कुछ देर बात करके और विश्राम करके वे शिकारी आगे बढ़ गये।

उनके चले जाने पर पास के शीशम के पेड़ ने बड़ से कहा, "बड़ दादा अभी तुम्हारी छाँह में ये कौन थे? वे गये?"

बड़ ने कहा, "हाँ गये। तुम उन्हें नहीं जानते हो?"

शीशम ने कहा, "नहीं, वे बड़े अजब मालूम होते थे। कौन थे, दादा?"

दादा ने कहा, "जब छोटा था, तब इन्हें देखा था। इन्हें आदमी कहते हैं। इनमें पत्ते नहीं होते, तना ही तना होता है। देखा, वे चलते कैसे हैं? अपने तने की दो शाखों पर ही चलते चले जाते हैं"

शीशम–"ये लोग इतने ही ओछे रहते हैं ऊँचे नहीं उठते, क्यों दादा?"

बड़ दादा ने कहा, "हमारी तुम्हारी तरह इनमें जड़ें नहीं होतीं। बढ़ें तो काहे पर? इससे वे इधर-उधर चलते रहते हैं, ऊपर की ओर बढ़ना उन्हें नहीं आता। बिना जड़ न जाने वे जीते किस तरह हैं!"

इतने में बबूल, जिसमें हवा साफ छनकर निकल जाती थी, रुकती नहीं थी और जिसके तन पर काँटे थे, बोला, "दादा, ओ दादा, तुमने बहुत दिन

देखे हैं। यह बताओ कि किसी वन को भी देखा है। ये आदमी किसी भयानक वन की बात कर रहे थे। तुमने उस भयावने वन को देखा है?"

शीशम ने कहा, "दादा, हाँ, सुना तो मैंने भी था। वह वन क्या होता है?"

बड़ दादा ने कहा, "सच पूछो तो भाई, इतनी उमर हुई, उस भयावने वन को तो मैंने भी नहीं देखा। सभी जानवर मैंने देखे हैं। शेर, चीता, भालू, हाथी, भेड़िया। पर वन नाम के जानवर को मैंने अब तक नहीं देखा।"

एक ने कहा, "मालूम होता है वह शेरों चीतों से भी डरावना होता है।"

दादा ने कहा, "डरावना जाने तुम किसे कहते हो। हमारी तो सबसे प्रीति है।"

बबूल ने कहा, "दादा, प्रीति की बात नहीं है। मैं तो अपने पास काँटे रखता हूँ। पर वे आदमी वन को भयावना बताते थे। जरूर वह शेर चीतों से बढ़कर होगा।"

दादा, "सो तो होता ही होगा। आदमी एक टूटी-सी टहनी से आग की लपट छोड़कर शेर-चीतों को मार देता है। उन्हें ऐसे मरते अपने सामने हमने देखा है। पर वन की लाश हमने नहीं देखी। वह जरूर कोई बड़ा खौफनाक होगा।"

इसी तरह उनमें बातें होने लगीं। वन को उनमें से कोई नहीं जानता था। आस-पास के और पेड़ साल, सेमर, सिरस उस बात-चीत में हिस्सा लेने लगे। वन को कोई मानना नहीं चाहता था। किसी को उसका कुछ पता नहीं था। पर अज्ञात भाव से उसका डर सबको था। इतने में पास ही जो बाँस खड़ा था और जो जरा हवा पर खड़-खड़ सन्-सन् करने लगता था, उसने अपनी जगह से ही सीटी-सी आवाज देकर कहा, "मुझे बताओ, मुझे बताओ, क्या बात है। मैं पोला हूँ। मैं बहुत जानता हूँ।"

। बाँसी

बड़ दादा ने गम्भीर वाणी से कहा, "तुम तीखा बोलते हो। बात है कि बताओ तुमने वन देखा है ? हम लोग सब उसको जानना चाहते हैं ?"

बाँस ने रीती आवाज से कहा, "मालूम होता है हवा मेरे भीतर के रिक्त में वन-वन-वन-वन ही कहती हुई घूमती रहती है। पर ठहरती नहीं। हर घड़ी सुनता हूँ, वन है। वन है। पर मैं उसे जानता नहीं हूँ। क्या वह किसी को दीखा है ?"

बड़ दादा ने कहा, "बिना जाने फिर तुम इतना तेज क्यों बोलते हो ?"

बाँस ने सन्-सन् की ध्वनि में कहा, "मेरे अन्दर हवा इधर से उधर बहती रहती है, मैं खोखला जो हूँ। मैं बोलता नहीं, बजता हूँ। वही मुझमें से बोलती है ?"

बड़ ने कहा, "बंश बाबू, तुम घने नहीं हो, सीधे ही साधे हो। कुछ भरे होते तो झुकना जानते। लम्बाई में सब कुछ नहीं है।"

बंश बाबू ने तीव्रता से खड़-खड़ सन्-सन् किया कि ऐसा अपमान वह नहीं सहेंगे। देखो, वह कितने ऊँचे हैं।

बड़ दादा ने उधर से आँख हटाकर फिर और लोगों से कहा कि हम सबको घास से इस विषय में पूछना चाहिए। उसकी पहुँच सब कहीं है। वह कितनी व्याप्त है। और ऐसी बिछी रहती है कि किसी को उससे शिकायत नहीं होती।

तब सबने घास से पूछा, "घास री घास, तू वन को जानती है ?"

घास ने कहा, "नहीं तो दादा, मैं उन्हें नहीं जानती। लोगों की जड़ों को ही मैं जानती हूँ। उनके फल मुझसे ऊँचे रहते हैं। पदतल के स्पर्श से सबका परिचय मुझे मिलता है। जब मेरे सिर पर चोट ज्यादा पड़ती है, समझती हूँ यह ताकत का प्रमाण है। धीमे कदम से मालूम होता है, यह कोई दुखियारा आ रहा है।"

"दुख से मेरी बहुत बनती है, दादा ; मैं उसी को चाहती हुई यही

कथा-भीरी

ऐसा कहकर उस वीर सिंह ने वह तुमुल घोर गर्जन किया कि दिशाएँ कांपने लगीं। बड़ दादा के देह के पत्र खड़-खड़ करने लगे। उनके शरीर के कोटर में वास करते हुए शावक चीं-चीं कर उठे। चहुँ ओर जैसे आतंक भर गया। पर वह गर्जना गूँजकर रह गई। हुंकार का उत्तर कोई नहीं आया।

सिंह ने उस समय गर्व से कहा, "तुमने यह कैसे जाना कि कोई वन है और वह आस-पास रहता है। जब मैं हूँ, आप सब निर्भय रहिये कि वन कोई नहीं है, कहीं नहीं है। मैं हूँ, तब किसी और का खटका आपको नहीं रखना चाहिए।"

बड़ दादा ने कहा, "आपकी बात सही है। मुझे यहाँ सदियां हो गई हैं। वन होता, तो दीखता अवश्य। फिर आप हो, तब कोई और क्या होगा। पर वे दो शाखा पर चलने वाले जीव जो आदमी होते हैं, वे ही यहाँ मेरी छाँह में बैठकर उस वन की बात कर रहे थे। ऐसा मालूम होता है कि ये बे-जड़ के आदमी हमसे ज्यादा जानते हैं।"

सिंह ने कहा, "आदमी को मैं खूब जानता हूँ। मैं उसे खाना पसन्द करता हूँ। उसका माँस मुलायम होता है; लेकिन वह चालाक जीव है। उसको मुँह मारकर खा डालो, तब तो वह अच्छा है, नहीं तो उसका भरोसा नहीं करना चाहिए। उसकी बात-बात मे धोखा है।"

बड़ दादा तो चुप रहे, लेकिन औरों ने कहा कि सिंहराज, तुम्हारे भय से बहुत से जन्तु छिपकर रहते हैं। वे मुँह नहीं दिखाते। वन भी शायद छिपकर रहता हो। तुम्हारा दबदबा कोई कम तो नहीं है। इससे जो साप धरती में मुँह गाड़ कर रहते हैं, ऐसी भेद की बातें उससे पूछनी चाहिए। रहस्य कोई जानता होगा, तो अँधेरे में मुँह गाड़कर रहने वाला साप जैसा जानवर ही जानता होगा। हम पेड़ तो उजाले में सिर उठाये खड़े रहते हैं। इसलिए हम बेचारे क्या जानें।

शेर ने कहा कि जो मैं कहता हूँ, वही सत्य है। उसमें शक करने की हिम्मत ठीक नहीं है। जब तक मैं हूँ, कोई डर न करो। कैसा सांप और कैसा कुछ और। क्या कोई मुझसे ज्यादा जानता है?

बड़ दादा यह सुनते हुए अपनी दाढ़ी की जटाएँ नीचे लटकाये बैठे रह गये, कुछ नहीं बोले। औरों ने भी कुछ नहीं कहा। बबूल के काँटे जरूर उस वक्त तनकर कुछ उठ आये थे। लेकिन फिर भी बबूल ने धीरज नहीं छोड़ा और मुँह नहीं खोला।

अन्त में जम्हाई लेकर मंथर गति से सिंह वहाँ से चले गये।

भाग्य की बात कि साँझ का झुटपुटा होते-होते चुप-चाप घास में से जाते हुए दीख गये चमकीली देह के नागराज। बबूल की निगाह तीखी थी। झट से बोला, "दादा! ओ बड़ दादा; वह जा रहे हैं सर्पराज। ज्ञानी जीव हैं। मेरा तो मुँह उनके सामने कैसे खुल सकता है। आप पूछो तो जरा कि वन का ठौर-ठिकाना क्या उन्होंने देखा है?"

बड दादा शाम से ही मौन हो रहते हैं। वह उनकी पुरानी आदत है। बोले, "सध्या आ रही है। इस समय वाचालता नहीं चाहिए।"

बबूल झक्की ठहरे। बोले, "बड़ दादा, सांप धरती से इतना चिपटकर रहते हैं कि सौभाग्य से हमारी आँखें उन पर पड़ती हैं। और यह सर्प अतिशय श्याम है, इससे उतने ही ज्ञानी होंगे। वर्ण देखिए न, कैसा चमकता है। अवसर खोना नहीं चाहिए। इनसे कुछ रहस्य पा लेना चाहिए।"

बड़ दादा ने तब गम्भीर वाणी से साँप को रोक कर पूछा कि हे नाग, हमें बताओ कि वन का वास कहाँ है और वह स्वयं क्या है?

साँप ने साश्चर्य कहा, "किसका वास? वह कौन जन्तु है? और उसका वास पाताल तक तो कहीं है नहीं।"

बड़ दादा ने कहा कि हम कोई उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। तुमसे जानने की आशा रखते हैं। जहाँ जरा छिद्र हो, वहाँ तुम्हारा प्रवेश है।

कोई टेढ़ा-मेढ़ापन तुम से बाहर नहीं है। इससे तुम से पूछा है।

साँप ने कहा, "मैं धरती के सारे गर्त जानता हूँ। भीतर दूर तक पैठ-कर उसी के अन्तर्भेद को पहचानने में लगा रहता हूँ। वहाँ ज्ञान की खान है। तुमको अब क्या बताऊँ। तुम नहीं समझोगे। तुम्हारा वन, लेकिन कोई गहराई की सचाई नहीं जान पड़ती। वह कोई बनावटी सतह की चीज है। मेरा वैसा ऊपरी और उथली बातों से वास्ता नहीं रहता।"

बड़ दादा ने कहना चाहा कि तो वन—

साँप ने कहा, "वह फर्जी है।" यह कह कर वह आगे बढ़ गये।

मतलब यह है कि सब जीव-जन्तु और पेड़-पौधे आपस में मिले और पूछताछ करने लगे कि वन को कौन जानता है और वह कहाँ है, क्या है? उनमें सबको ही अपना-अपना ज्ञान था। अज्ञानी कोई नहीं था। पर उस वन का जानकार कोई नहीं था। एक नहीं जाने, तो नहीं जानें, दस-बीस नहीं जानें। लेकिन जिस को कोई भी नहीं जानता, ऐसी भी भला कोई चीज कभी हुई है। या हो सकती है? इसलिए उन जंगली जन्तुओं में और वनस्पतियों में खूब चर्चा हुई, खूब चर्चा हुई। दूर-दूर तक उनकी तू-तू मैं-मैं सुनाई देती थी। ऐसी चर्चा हुई, ऐसी चर्चा हुई कि विद्याओं पर विद्याएँ उनमें से प्रस्तुत हो गईं। अन्त में तय पाया कि दो टाँगों वाला आदमी ईमानदार जीव नहीं है। उसने तभी वन की बात बनाकर कह दी है। वह वन क्या है। सच में वह नहीं है।

उस निश्चय के समय बड़ दादा ने कहा कि भाइयो, उन आदमियों को फिर आने दो। इस बार साफ-साफ उनसे पूछना है कि बतायें, वन क्या है। बतायें, तो बतायें, नहीं तो खामखाह झूठ बोलना छोड़ दें। लेकिन उनसे पूछने से पहले उस वन से दुश्मनी ठानना हमारे लिए ठीक नहीं है। वह भयावना सुनते हैं। जाने वह और क्या हो?

लेकिन बड़ दादा की वहाँ विशेष चली नहीं। जवानों ने कहा कि ये

बड़ा-बीती

बूढ़े हैं, उनके मन में तो डर बैठा है और जंगल के न होने का फैसला पास हो गया।

एक रोज आफत के मारे फिर वे शिकारी उस जगह आये। उनका आना था कि जंगल जाग उठा। बहुत से जीव-जन्तु झाड़ी-पेड़ तरह-तरह की बोली बोल कर अपना विरोध दरसाने लगे। वे मानो उन आदमियों की भर्त्सना कर रहे थे। आदमी बिचारों को अपनी जान का संकट मालूम होने लगा। उन्होंने अपनी बन्दूकें सँभाली। इस टूटी सी टहनी को, जो आग उगलती है, वह बड़ दादा पहचानते थे। उन्होंने बीच में पड़कर कहा, "अरे, तुम लोग अधीर क्यों होते हो। इन आदमियों के खतम हो जाने से हमारा-तुम्हारा फैसला निर्भ्रम कहलायेगा। जरा तो ठहरो। गुस्से से कहीं ज्ञान हासिल होता है? ठहरो, इन आदमियों से उस सवाल पर मैं खुद निपटारा किये लेता हूँ।" यह कहकर बड़ दादा आदमियों को मुखातिब करके बोले, "भाई आदमियो, तुम भी पोली चीजों का नीचा मुँह करके रखो, जिनमें तुम आग भर कर लाते हो। डरो मत। अब यह बताओ कि वह जंगल क्या है, जिसकी तुम बात किया करते हो? बताओ, वह कहाँ है?"

आदमियों ने अभय पाकर अपनी बन्दूकें नीची कर लीं और कहा, "यह जंगल ही तो है, जहाँ हम सब हैं।"

उनका इतना कहना था कि चीची-कींकीं, सवाल पर सवाल होने लगे।

"जंगल यहाँ कहाँ है? कहीं नहीं है।"

"तुम हो। मैं हूँ। —ह है। वह है। जगल फिर हो कहाँ सकता है।"

"तुम झूठे हो।"

"धोखेबाज।"

"स्वार्थ

"खतम करो इनको।"

आदमी यह देखकर डर गये। बन्दूकें सँभालना चाहते थे कि बड़ दादा ने मामला संभाला और पूछा, "सुनो आदमियो, तुम झूठे साबित होगे, तभी तुम्हें मारा जायगा। क्या यह आग फेंकनी लिये फिरते हो। तुम्हारी बोटी का पता न मिलेगा। और अगर झूठे नहीं हो, तो बताओ, जंगल कहाँ है ?"

उन दोनों आदमियों में से प्रमुख ने विस्मय से और भय से कहा, "हम सब जहाँ हैं, वही तो जंगल है।"

बबूल ने अपने काँटे खड़े करके कहा, "बको मत, वह सेमर है, वह सिरस है, वह साल है, घास है। वह हमारे सिंहराज हैं। वह पानी है। वह धरती है। तुम जिनकी छाँह में हो, वह हमारे बड़ दादा हैं। तब तुम्हारा जंगल कहाँ है,| दिखाते क्यों नहीं ? तुम हमको धोखा नहीं दे सकते।"

प्रमुख पुरुष ने कहा, "यह सब-कुछ ही जंगल है।"

इस पर गुस्से में भरे हुए कई वनचरों ने कहा, "बात से बचो नहीं। ठीक बताओ, नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं है।"

अब आदमी क्या कहे, परिस्थिति देखकर वे बेचारे जान से निराश होने लगे। अपनी मानवी बोली में (अब तक प्राकृतिक बोली में बोल रहे थे) एक ने कहा, "यार, कह क्यों नहीं देते कि जंगल नहीं है। देखते नहीं, किन से पाला पड़ा है !"

दूसरे ने कहा, "मुझ से तो कहा नहीं जायगा।"

"तो क्या मरोगे ?"

"सदा कौन जिया है। इससे इन भोले प्राणियों को भुलावे में कैसे रखूँ।"

यह कहकर प्रमुख पुरुष ने सबसे कहा, "भाइयो, जंगल कहीं दूर या बाहर नहीं है। आप लोग सभी वह हो।"

कथा-वीथी

बूढ़े हैं, उनके मन में तो डर बैठा है और जंगल के न होने का फैसला पास हो गया।

एक रोज आफत के मारे फिर वे शिकारी उस जगह आये। उनका आना था कि जंगल जाग उठा। बहुत से जीव-जन्तु झाड़ी-पेड़ तरह-तरह की बोली बोल कर अपना विरोध दरसाने लगे। वे मानो उन आदमियों की भर्त्सना कर रहे थे। आदमी बिचारों को अपनी जान का संकट मालूम होने लगा। उन्होंने अपनी बन्दूकें सँभालीं। इस टूटी सी टहनी को, जो आग उगलती है, वह बड़ दादा पहचानते थे। उन्होंने बीच में पड़कर कहा, "अरे, तुम लोग अधीर क्यों होते हो। इन आदमियों के खतम हो जाने से हमारा-तुम्हारा फैसला निर्भ्रम कहलायेगा। जरा तो ठहरो। गुस्से से कहीं ज्ञान हासिल होता है? ठहरो, इन आदमियों से उस सवाल पर मैं खुद निपटारा किये लेता हूँ।" यह कहकर बड़ दादा आदमियों को मुखातिब करके बोले, "भाई आदमियों, तुम भी पोली चीजों का नीचा मुँह करके रखो, जिनमें तुम आग भर कर लाते हो। डरो मत। अब यह बताओ कि वह जंगल क्या है, जिसकी तुम बात किया करते हो? बताओ, वह कहाँ है?"

आदमियों ने अभय पाकर अपनी बन्दूकें नीची कर लीं और कहा, "यह जंगल ही तो है, जहाँ हम सब हैं।"

उनका इतना कहना था कि चीचीं-कीकीं, सवाल पर सवाल होने लगे।

"जंगल यहाँ कहाँ है? कहीं नहीं है।"

"तुम हो। मैं हूँ। यह

"तुम झूठे हो।"

"धोखेबाज।"

"स्वार्थी!"

"खतम करो इनको।"

आदमी यह देखकर डर गये। बन्दूकें सँभालना चाहते थे कि बड दादा ने मामला संभाला और पूछा, "सुनो आदमियों, तुम झूठे साबित होगे, तभी तुम्हे मारा जायगा। क्या यह आग फेंकनी लिये फिरते हो। तुम्हारी बोटी का पता न मिलेगा। और अगर झूठे नही हो, तो बताओ, जंगल कहाँ है ?"

उन दोनों आदमियो में से प्रमुख ने विस्मय से और भय से कहा, "हम सब जहाँ हैं, वही तो जगल है।"

बबूल ने अपने कांटे खड़े करके कहा, "बको मत, वह सेमर है, वह सिरस है, वह साल है, घास है। वह हमारे सिंहराज हैं। वह पानी है। वह धरती है। तुम जिनकी छाँह मे हो, वह हमारे बड दादा हैं। तब तुम्हारा जंगल कहाँ है, दिखाते क्यों नही ? तुम हमको धोखा नहीं दे सकते।"

प्रमुख पुरुष ने कहा, "यह सब-कुछ ही जगल है।"

इस पर गुस्से में भरे हुए कई वनचरों ने कहा, "बात से बचो नही। ठीक बताओ, नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं है।"

अब आदमी क्या कहें, परिस्थिति देखकर वे बेचारे जान से निराश होने लगे। अपनी मानवी बोली मे (अब तक प्राकृतिक बोली मे बोल रहे थे) एक ने कहा, "यार, कह क्यो नही देते कि जगल नहीं है। देखते नही, किन से पाला पड़ा है !"

दूसरे ने कहा, "मुझ से तो कहा नहीं जायगा।"

"तो क्या मरोगे ?"

"सदा कौन जिया है। इससे इन भोले प्राणियों को भुलावे में कैसे रखूँ।"

यह कहकर प्रमुख पुरुष ने सबसे कहा, "भाइयो, जंगल कहीं दूर या बाहर नहीं है। आप लोग सभी वह हो।"

कथा-वीथी

इस पर फिर बोलियों-से सवालों की बौछार उन पर पड़ने लगी ।

"क्या कहा ? मैं जंगल हूँ ? तब बबूल कौन है ?"

"मूढ़ ! क्या मैं यह मानूँ कि मैं बाँस नहीं, जंगल हूँ । मेरा रोम-रोम कहता है, मैं बाँस हूँ ।"

"और मैं घास ।"

"और मैं शेर ।"

"और मैं साँप ।"

इस भाँति ऐसा शोर मचा कि उन बेचारे आदमियों की अकल गुम हो आ गई । बड़ दादा न हों, तो आदमियों का काम वहीं तमाम था ।

उस समय आदमी और बड़ दादा में कुछ ऐसी धीमी-धीमी बातचीत हुई कि वह कोई सुन नहीं सका । बातचीत के बाद वह पुरुष उस विशाल बड़ वृक्ष के ऊपर चढ़ता दिखाई दिया । चढ़ते-चढ़ते वह उसकी सबसे ऊपर की फुनगी तक पहुँच गया । वहाँ दो नये-नये पत्तों की जोड़ी खुले आसमान की तरफ मुस्कराती हुई देख रही थी । आदमी ने उन दोनों को बड़े प्रेम से पुचकारा । पुचकारते समय ऐसा मालूम हुआ, जैसा मन्त्र-रूप में उन्हें कुछ संदेश भी दिया है ।

वन के प्राणी यह सब-कुछ स्तब्ध भाव से हुए देख रहे थे । उन्हें कुछ समझ में न आ रहा था ।

देखते-देखते पत्तों की वह जोड़ी उद्ग्रीव हुई । मानो उनमें चैतन्य भर गया । उन्होंने अपने आस-पास और नीचे देखा । जाने उन्हें क्या दिखा कि काँपने लगे । उनके तन में लालिमा व्याप गई । कुछ क्षण बाद मानो एक चमक से चमक आये । जैसे उन्होंने खण्ड को कुल में देख लिया । देख लिया कि कुल है, खण्ड कहाँ है ।

वह आदमी अब नीचे उतर आया था और अन्य वनचरों के समकक्ष खड़ा था । बड़ दादा ऐसे स्थिर-शान्त थे, मानो योगमग्न हों कि सहसा

उनकी समाधि टूटी। वे जागे। मानो उन्हें अपने चरमवीर्य से, अभ्यन्तराभ्यन्तर में से, तभी कोई अनुभूति प्राप्त हुई हो।

उस समय सब ओर सप्रश्न मौन व्याप्त था। उसे भग करते हुए बड़ दादा ने कहा—

"वह है।"

कहकर वह चुप हो गये। साथियों ने दादा को सम्बोधित करते हुए कहा, "दादा, दादा!".....

दादा ने इतना ही कहा—

"वह है, वह है।"

"कहाँ है? कहाँ है?"

"सब कहीं है। सब कहीं है।"

"और हम?"

"हम नहीं, वह है।"

कथा-बीती

भगवतीप्रसाद वाजपेयी | निंदिया लागी

कालेज से लौटते समय मैं अक्सर अपने नये बंगले को देखता हुआ पर आया करता। उन दिनों वह तैयार हो रहा था। एक ओवरसियर साहब रोजना, सुबह-शाम, देख-रेख के लिये आ जाते थे। वे मझले भैया के सहपाठी मित्रों में से थे। लम्बा कद, गौर वर्ण, लम्बी नाक—खूबसूरत—और मुख पर उल्लास का अभिनव आलोक। गम्भीर भी होते तो प्रायः मालूम यही होता कि मुस्करा रहे हैं।

नाम उनका बेनीमाधव था। अवस्था अब पैंतालीस वर्ष से ऊपर जान पड़ती थी। मिस्त्री और मजदूर, सब मिलाकर, कोई पचीस तीस व्यक्ति काम कर रहे थे। मजदूरों में कुछ स्त्रियां भी थीं।

एक दिन मैंने देखा छत कूटी जा रही है। कूटने वालों में स्त्रियां ही हैं अधिकांश रूप से। दो पुरुष भी हैं, लेकिन वे जरा हटकर, एक कोने में हैं। स्त्रियां छत कूटती हुई एक गाना गा रही हैं। यों तो उनका गायन कुछ विशेष मधुर नहीं है, किन्तु अनेक साधारण सम्मिलित स्वरों के बीच में एक अत्यन्त कोमल स्वर भी है। तभी मैं उनके पास जाने को तत्पर हो गया। मुझे देखना था कि वह जो गाना गा रही है, जिसका कण्ठ इतना मधुर है, उसका रूप भी कुछ है या नहीं। मै मानता हूँ कि यह मेरी दुर्बलता थी; किन्तु उन दिनो मेरी समझ में यह बात कैसे आती !

एकाएक पहले तो ओवरसियर साहब सामने आ गये, बोले—आ गये छोटे भैया !

मैंने उनकी ओर देखकर जरा-सा मुस्करा दिया और कहा—जान तो मुझे भी ऐसा ही पड़ता है।

तब हँसते हुये उन्होंने कहा–लेकिन दर-असल आप आये नहीं । आप समझते की हैं कि दुनिया की नजरों में जो आप यहाँ मौजूद हैं, इतने से ही मैं यह मान लूँ कि आप पूरे सोलह-आने-भर आ गये हैं । और जो कहीं आप अपना 'कुछ' छोड़ आये हों, तो?

वे तब इतना कहते-कहते मेरे निकट, बिल्कुल निकट आगये, बोले–जब मैं अपने इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ता था, तब मैं कैसा था सच जानिये, आपको देखकर जब मुझे उसकी याद आ जाती है तो जी मसोसने लगता है । तबीअत चाहती है कि अपने को क्या कर डालूँ, जिससे कुछ शान्ति मिले । लेकिन फिर यही सोचकर सन्तोष कर लेता हूँ कि मनुष्य की तृष्णा का अन्त नहीं है । न आकाश मे न महासागर के अतल मे, न गिरि-गह्वर मे–संसार में कहीं भी, कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सकता, जहा पहुंच कर मनुष्य कामना से मुक्त हो सके ।

बेनीबाबू के मुख पर अगमनीय गम्भीरता की छाप थी, यद्यपि अपने विमल हास से वे उसे छिपाना चाहते थे । मैंने कहा–आप मेरे अध्ययन की चीज हैं, यह मुझे आज मालूम हुआ ।

एक ओर चलते हुये वे बोले–अभी आपको कुछ भी नही मालूम हुआ है ।

किन्तु बेनीबाबू की इतनी-सी बात से मेरे मन का कुतूहल अभी शान्त नही हो पाया था, इसलिए मैं उनके पीछे-पीछे चल दिया ।

घूमते, काम देखते हुए, एक मिस्त्री के पास जाकर वे खडे हो गए । वह आर्च बनाने जा रहा था, बोले–देखो जी मिस्त्री, पत्तियां और फूल बनाना ही काफी नहीं है । टहनी और उसमें उभड़े हुए काटे भी दिखाने होते हैं । माना कि नकल नकल ही है, असल चीज वह कभी हो नही सकती; किन्तु चीज की जो असलियत है, गुण के साथ दुर्गुण भी, नकल मे यदि उसको स्पष्ट न किया जा सका, तो वह नकल भी नकल नही हो सकती । बनाने मे तुमको अगर दिक्कत हो तो मैं नमूना दे जा सकता हू; लेकिन मेरी तबीअत

की चीज अगर तुम न बना सके; तो मैं कह नहीं सकता कि आगे चलकर तुम्हें उसका क्या फल भोगना पड़ेगा ।

मिस्त्री वृद्ध था । उसके बाल पक गये थे । उसकी आँखों पर पुरानी चाल का चश्मा चढ़ा हुआ था । बड़े गौर से वह बेनीबाबू की ओर देखने लगा, लेकिन कुछ कहा नहीं । तब बेनीबाबू वहाँ और अधिक ठहर न सके ।

अब वे आगन में एक टब के पास खड़े थे । नल का पानी टब में गिर रहा था । मैं थोड़ा पीछे था । जब उनके निकट पहुँचा तो वे बोले–आपने इस मिस्त्री की आँखों को देखा? वह कुछ कह नहीं सका था, लेकिन उसकी आँखों ने जो बात कह दी, मैं उसे सहन नहीं कर सका । वह समझता है, मैंने फल भोगने की बात कह के उसको चोट पहुँचाने, उसका अपमान करने की चेष्टा की है, किन्तु वह नहीं जानता, जान भी नहीं सकता कि मेरी बात का कोई उत्तर न देकर उसने मुझ पर कैसा भयंकर आघात किया है! एक वह नहीं, मालूम नहीं, कितने आदमी आपको ऐसे मिल सकते हैं, जो मुझे गलत समझते हैं । आज पन्द्रह वर्षों से, बल्कि और भी अधिक काल से, मुझे जहाँ-कहीं भी मकान बनवाने का काम पड़ा है, मैंने इस मिस्त्री को अवश्य बुलाया है । मैंने काम के सम्बन्ध में कभी-कभी तो उसे इतना डाँटा है कि वह रो दिया है तो भी कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने मुझे तीखा उत्तर दिया हो । उसका वही पुराना चश्मा है, वैसी ही भीतर तक प्रविष्ट हो जाने वाली दृष्टि । उसने कभी मजदूरी मुझसे तय नहीं की । और कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब काम समाप्त हो जाने पर, मजदूरी के अतिरिक्त उसने दस-पन्द्रह रुपए पुरस्कार के न प्राप्त किये हों । किन्तु इन सब बातों को अच्छी तरह समझते हुए भी डाँटना तो पड़ता ही है क्योंकि उससे कला-कार की सूक्ष्म कल्पना को आवरण मिलता है ।

अब बेनीबाबू घूमते फिरते वहीं आ पहुँचे, जहाँ स्त्रियाँ छत कूट रही थीं । एकाएक ज्यों उन्होंने हैल्पारी हम लोगों को देखा तो उनका गाना बन्द

हो गया तब मेरे मन में आया कि इससे तो यही अच्छा था कि हम लोग यहाँ न आते । और कुछ नहीं तो संगीत का वह मृदुल स्वर तो कानों में पड़ता । और वह संगीत भी कैसा?-एकदम असाधारण । उसकी टेक तो कभी भूल ही नहीं सकती । जैसी नन्हीं, वैसी ही भोली।

'निंदिया लागी-मैं सोय गई गुइयाँ!'

बेनीबाबू ने खड़े-खड़े, इधर उधर देखा और कहा-देखो इधर, इस तरह नहीं पीटना होता कि चोटों की आवाज का सिलसिला बिगड़ जाय । मुगरी की आवाजें, सारी की सारी एकबारगी, एक साथ, होनी चाहिए । और देखो, आज इस छत की पिटाई का काम खत्म हो जाना चाहिए ।

रामलखन बोला-सरकार, आज कैसे पूरा होगा ? दिन ही कितना रह गया है !

बको मत, रामलखन ! काम नहीं पूरा होगा तो पैसा भी पूरा नहीं होगा । समझते हो न? काम का ही दूसरा नाम पैसा है ।

रामलखन चुप रह गया ।

बेनीबाबू भी चल दिए; लेकिन चलने के साथ ही पिटाई की आवाजें, उनकी धमक, उनकी गति और चूड़ियों की खनक और 'निंदिया लागी' का स्वर अतिशय गम्भीर हो गया । मैंने बेनीबाबू से कहा—आप काम लेना खूब जानते हैं ।

वे हँसते-हँसते बोले-मैं जानता बहुत-कुछ हूं छोटे भैया, लेकिन जानना ही काफी नहीं होता । ज्ञान से भी बढ़कर जो वस्तु है, उसको भी तो जानना होता है, और उसे मैं अभी तक जान नहीं सका ।

मैंने पूछ दिया-वह क्या ?

वे बोले-सत्य का ग्रहण ।

मैंने कहा—सिर्फ पहेली न कहिए, उसे समझाते भी चलिए ।

वे तब एक पेड़ के नीचे, सड़क पर ही एक ओर कुर्सियाँ डलवाकर

कथा-वीथी

बैठ गये और बोले—ये स्त्रियाँ, जो यहाँ मजदूरी करने आई है, कितने स
से सभी और वस्त्र पहुँचेंगी; कोई घर में अपने बच्चों को छोड़ आई है
का पति खेत मे काम करने गया होगा, किसी के कोई होगा ही नहीं
काम करते-करते उनको अगर उनकी सुधि आ ही जाती है और काम
में क्षणिक मन्दता हो ही उठती है तो यह भी आज की हमारी इस
को सहन नहीं है । और तारीफ यह है कि हम समझ लेते हैं कि
जाती हैं । हम यही देख कर सन्तोष कर लेते हैं कि जो स्त्री यहाँ प
दूरी कर रही है, हमको सिर्फ उसी से मतलब है, उसी की मजदूरी
रहे हैं, किन्तु हम यह सोचने की जरूरत ही नहीं समझते कि वह स्त्री
जगत् को लेकर क्या है । जो बच्चा उसने उत्पन्न किया है वह भी तो
पालन-पोषण का भार अपनी माँ पर रखता है; पर हम लोग वहाँ तक
ही नहीं चाहते । हमारे स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरकुशता के सा
रखा है !

बेनीबाबू चुप हो गये । एक ओर खुले अम्बर मे, विहंगाव
अपने पङ्खों को फैलाए, नितान्त निर्बन्ध, हँसी-खुशी के साथ उड़ी च
रही थीं । एक साथ हम दोनों उधर देखने लगे, किन्तु बराबर उधर
के बदले मैंने एक बार फिर बेनीबाबू को ही देखा । उनके मस्तक के
चँदवा खुल आया था । उसमे नन्हे-नन्हें एक आध बाल ही अवशिष्ट
वे अब सान्ध्य आलोक मे चमक रहे थे । उनकी खुली आँखें यद्यपि
के भीतर थी, तो भी मुझे प्रतीत हुआ, जैसे वे कुछ और भी फैल गई
इसी क्षण वे बोले—अब यह काम और आगे न करूँगा, लेकिन''''''।

उनका यह वाक्य अधूरा रह गया । जान पड़ा, वे कोई निश्चय
रहे हैं और रुक-रुक जाते हैं । रुक इस लिये नहीं जाते कि रुकना च
हैं । रुक इस लिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते ।

तभी वे फिर बोले'''तुम उस बात को अभी समझ नहीं सकोगे, ले
कथा-वीथी

ऐसी बात नहीं है कि उस बात के समझने की तुम्हारी क्षमता कुन्द है। देखता हूं, तुम विचारशील हो, और तभी मैं कहना भी चाहता हूँ कि आदमी तो अपने विश्वासो को लेकर खड़ा होता, वह भी क्या आदमी है? वह आदमी नहीं है। वह पशु है· पशु। लेकिन कैसे कहूँ कि पशु भी अपने विश्वासो के विरुद्ध खड़ा हो सकने वाला प्राणी है। वह तो `वह तो, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों का ही स्वरूप होता है। और यह मनुष्य? छि:, इससे भी अधम क्या कोई स्थिति है!

मैंने देखा, यह वातावरण तो अब अतिशय गम्भीर हो गया है। और उन दिनों इस तरह की निरी गम्भीरता मुझे जरा कम पसन्द आती थी, बल्कि साथी लोग जब ऐसे व्यक्तियों का मजाक उड़ाते, तो उस दल में मैं भी सम्मिलित हो जाया करता था। उस समय हम सब यही मानते थे कि जीवन एक हंसी-खेल की चीज है। सर्वथा अनिश्चित और चरम अकल्पित जीवन के थोड़े-से दिनों को रोने या सोच-विचार में निपीड़ित-निर्जीव कर डालने में कौन सी महत्ता है?

इसीलिये मैंने कह दिया—इन लोगों के गाने में बीच का यह, हां, बस, यह स्वर मुझे बड़ा कोमल लगता है।

निमिषमात्र में, सम्यक बदल कर, वे बोले—

जाओ, नजदीक से जाकर सुन आओ। हैट यहीं रख जाओ। फिर भी अगर वे गाना बन्द कर दें तो कहना—काम में हर्ज नहीं होना चाहिये; क्योंकि गाने के साथ छन कूटने का काम अधिक अच्छा होता है,' बेनीबाबू ने मुसकराते हुए कहा।

मैं चला गया—चुपचाप, बहुत धीरे धीरे, पैर संभाल-संभालकर। तो भी उनको मालूम हो ही गया। काम की गति में कुछ तीव्रता जरूर आन पड़ी, किन्तु गाना बन्द हो गया।

मैंने कहा—तुम लोगों ने गाना क्यों बन्द कर दिया?

खिलखिल के कुछ मदिर कहकहाए! कभी इधर—कभी उधर।

किसी ने अपनी सखी से कहा, जरा-सा धक्का-देकर—गा री पत्नी, चुप क्यों हो गई ?

'तू ही क्यों नहीं गाती ? छोटे-भैया के सामने... '

'हूँ, बड़ी लाजवन्ती बनी है! जैसे दुलहे का मुँह ही न देखा हो!'.

मैंने कहना चाहा—लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ। लेकिन मैं कुछ कह न सका। चुपचाप चला आया। चला तो आया; किन्तु उस खिलखिल और अपने सामने गाने से लजानेवाली उस पत्नी को मैंने फिर देखने की चेष्टा नहीं की।

कसे उल्लास के साथ आया था, किन्तु कैसा भीषण द्वन्द्व लेकर चल दिया!

बेनी बाबू ने बड़े प्यार से पूछा– हाँ, कह आओ।

मैंने कहा–क्या कह आऊँ? वही बात हुई। उन लोगों ने गाना बन्द कर दिया।

'फिर तुमने वह बात नहीं कही ?'

'मैं कुछ कह नहीं सका।'

'तो यह कहो कि तुम खुद ही लजा गये।

मैं चुप रहा। जिसने कभी चोरी नहीं की, जो यह भी नहीं जानता कि चोरी की कैसे जाती है, वह चीज क्या है, यदि वह कभी उसके दल-दल में पड़ जायगा, तो उससे सफाई के साथ निकल ही कैसे सकेगा ? वह तो निश्चयपूर्वक फँस जायगा। वही गति मेरी हुई। क्या मैं जानता था कि बेनी बाबू मुझे ऐसी जगह ले जायँगे, जहाँ पहुँचकर फिर मुक्ति का मार्ग ही दृष्टिगत न होगा ?

बेनीबाबू बोले– अच्छा एक काम कर आओ। रामलखन से कहना, अगर आज यह काम किसी तरह पूरा होता न दीख पड़े तो कल ही पूरा

कर डालना ठीक होगा। बेनीबाबू से मैंने कह दिया है कि मजदूरों से उतना ही काम लिया जाय, जितना वे कर सकें।

मैं उनकी ओर देखता रह गया। मेरे मन में आया—यह आदमी है कि देवता!

मुझे अवाक् देखकर उन्होंने पूछा—सोचते क्या हो?

मैंने कहा—कुछ नहीं। इतने दिन से आपका परिचय प्राप्त है, किन्तु कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि आपको इतने निकट से देख पाता।

वे बोले—यह सब कोई चीज नहीं है, छोटे भैया! न्याय और सत्य से हम कितने दूर रहते हैं, शायद हम खुद नहीं जानते।······अच्छा जाओ, जो काम तुम्हें दिया गया है, उसको पूरा कर आओ।

मैं फिर उसी छत पर आ पहुँचा; पर अब की बार मैंने देखा, गान चल रहा है; लेकिन एक ही गाना तो दिन-भर चल नहीं सकता। तो भी मुझे उसी गाने के सुनने की इच्छा हो आई। साथ ही मैंने यह भी सोच लिया कि अभी कुछ समय पहले बेनीबाबू ने कहा था, मनुष्य की कामनाओं का अन्त नहीं है।

मैंने जो रामलखन को बुलाया तो वह सिटपिटा गया, बोला—छोटे सरकार, क्या हुक्म है?

मैंने कहा—बेनीबाबू क्या तुम लोगों के साथ कुछ ज्यादा सख्ती से काम लेते हैं?

वह चुप ही बना रहा, सत्य-कृपण कुछ भी नहीं कह सका। तब मैंने समझ लिया, डर के कारण वह उनके विरुद्ध कुछ कहना नहीं चाहता इसीलिए चुप है, लेकिन जब मैंने कहा—मैं उनसे कुछ कहूँगा नहीं; मैं तो सिर्फ असल बात जानना चाहता हूँ। बिलकुल निडर होकर बतलाओ।

तब उसने कहा—काम सख्ती से लेते हैं तो मजदूरी भी तो दो पैसा ज्यादा और वक्त पर देते हैं। ऐसे मालिक मिलें तो मैं जिन्दगी भर उनकी गुलामी करूँ।

वर्षा-बीची

मैंने कहा—तुम ठीक कहते हो । उन्होंने मुझसे कहला भेजा है कि अगर काम आज नही पूरा होता है तो कल ही पूरा कर डालना । ज्यादा तकलीफ उठाने की जरूरत नही है ।

रामलखन बोला—पर छोटे भैया, उन्होंने पहले ही बहुत सोचसमझ कर हुक्म दिया था । काम अगर आज पूरा न होता तो कूटने के लिए चूना कल हम लोगो को इस हालत मे न मिलता । वह सूख जाता । तब उस पर कुटाई ठीक तरह से कैसे होती ? इसके सिवाय कल गुड़ियों का त्यौहार है– छुट्टी का दिन है । मैंने पीछे जो सोचा तो मुझे इन सब बातो का खयाल आ गया । काम पूरा हो जावेगा । बहुत कुछ तो हो भी गया है । थोड़ा-सा ही बाकी रह गया है । वह भी शाम होते-होते पूरा हो जायगा । तकलीफ तो थोड़ी हुई—किसी-किसी के हाथो मे छाले पड़ गये; लेकिन यह बात आप उनसे जाकर न कहें, सरकार ! इतनी बात मेरी भी रख लें ।

रामलखन की बात मानकर सचमुच मैंने बेनीबाबू से यह नही कहा कि कुछ स्त्रियो के हाथो मे छाले पड़ गये हैं ।

किन्तु उसी दिन सायकाल—

एक ओर जीने की दीवार गिर गई । छुट्टी हो गई थी । मजदूर लोग इधर-उधर से आ-आकर जाने लगे थे कि अररर धम् का भीषण स्वर और एक क्षीण 'आह' !

लोग दौड़ पड़े । लोग गिने भी गये । सब मिलाकर उन्तीस आदमी आज काम पर थे, लेकिन हैं केवल सत्ताइस !

—तो दो आदमी दब गये क्या ?

—हाँ, यह हल्का स्वर जो आ रहा है ! यह ! …यह !

ईंटें उठाई जाने लगीं तो एक स्त्री ने कहा—हाय, पत्ती है—पत्ती ! तभी मैं सोच रही थी—वह दीख नहीं पड़ती, शायद आगे निकल गई ! हाय वह तो चल बसी !

उससे कौन कहता कि हाँ वह आगे निकल गई।

लेकिन एक क्षीण स्वर तब भी ध्वनित होता रहा !

—अरे और उठाओ ईंटों को। हाँ, इस खजड़ को। अभी एक आदमी और भी तो है।

एक साथ कई आदमियों ने मिलकर एक दीवार के टुकड़े को उठाया। वह ईंटों के ऊपर गिरा था और बीच में थोड़ी जगह शेष रह गयी थी। उसी में मुड़ा हुआ अचेत मिला गिरिधर।

कुछ दिनों में गिरिधर अच्छा हो गया। उसकी रीढ़ टूट गई थी, लेकिन उसका जीवन उसकी रीढ़ से अधिक बलिष्ठ था।

उस बँगले को, फिर आगे बेनीबाबू नहीं बनवा सके। कुछ दिनों तक काम बन्द रहा और वे बीमार पड़ गये।

मनुष्य का यह जीवन क्या इतना अस्थिर है ? क्या वह फूल के दल से भी अधिक मृदुल है? क्या वह छुई-मुई है? उन दिनों मैं यही सोचता रहा था। वे बीमार थे, और उनकी बीमारी बढ़ती जाती थी। मैं देख रहा था, शायद बेनीबाबू तैयारी कर रहे हैं। लेकिन एक दिन मैंने उन्हें दूसरे रूप में देखा। मैंने देखा कि मृत्यु को मसल डाला है, पीस डाला है! वह छटपटा रही है ! वह भाग जाना चाहती है !

वे एक पलंग पर लेटे हुये थे, बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उनके पास एक नौजवान बैठा हुआ था। वह मौन था, और बेनीबाबू उससे कुछ पूछ रहे थे। उसी क्षण मैं पहुँच गया। वे उठने को हुए तो नौकर ने उन्हें उठा दिया और उनके पीछे तकिये लगा दिये। पहले आँखों पर चश्मा नहीं था; अब उन्होंने चश्मा चढ़ा लिया।

संकेत पाकर मैं उनके पास ही कुर्सी डालकर बैठ गया था।

वे बोले—[illegible]
अपने को खो दूँग

इसीलिए मैं तुमको प्रसन्न देखना चाहता हूँ। बतलाओ, तुम किस तरह प्रसन्न हो सकते हो? मैं और साफ कर दूँ? मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ। बोलो, तुम कितने रुपये पाकर खुश हो सकते हो? लेकिन तुम यह सोचने की भूल न करना कि ये रुपये तुम्हारी स्त्री की कीमत है! एक स्त्री– एक नवयुवती, एक सुन्दरी–को, क्या रुपयों से तोला जा सकता है? छिः, यह तो एक मूर्खता की बात है–जंगलीपन की। लेकिन मैंने तुमको बतलाया न, मैं तुमको खुश करना चाहता हूँ।

—ओह 'एक नवयुवती–एक सुन्दरी!'

तो क्या पत्नी सुन्दर थी?

—तो उसका कण्ठ ही कोमल न था, वरन्······

बेनीबाबू बोले–मैं जानता हूँ, तुम कुछ कहोगे नहीं। अच्छा, तो मैं ही कहे देता हूँ–उसके बच्चे की परवरिश के लिये, दस रुपये हर महीने मुझसे ले जाया करना। समझे!····· यह लो दस रुपये, आज पहली तारीख है। हर महीने की पहली तारीख को ले जाया करना–अच्छा!

जेब से नोट निकालकर उन्होंने मुल्लू के आगे फेंक दिया। मुल्लू तब कितना खुश था, इसको मैंने जाना, किन्तु बेनीबाबू ने जितना कुछ जाना उसको मैं न जान सका।

मुल्लू जब छलकते आनन्दाश्रुओं के साथ चल दिया तो बेनीबाबू बोले—मेरा ख्याल है, अब यह खुश रहेगा। क्यों-तुम क्या सोचते हो?

मैं चकित था, प्रतिहत था, अभिभूत भी था, तो भी मैंने कह दिया—आपने यह क्या किया?

'ओह, तुम मुझसे पूछते हो, छोटे भैया!—मैंने यह क्या किया? यह मैंने अपने को भुलाने के लिये किया है; क्योंकि मनुष्य अपने को भुलावे में रखने का अभ्यासी है। मैंने देखा–मैं एक भूल कर रहा हूँ—मैं मृत्यु को बुला रहा हूँ। तब मैंने सोचा–मैं ऐसी भूल करूँगा, जिसमें अपने आपको

भी मैं भुला सकूं! जीवन में एक ऐसा क्षण भी आता है, जब हमें अपने-आपको भुलाना पड़ता है! यह मेरा ऐसा ही क्षण है, लेकिन यह मेरी भूल नहीं है, यह मेरा नवजीवन है—जागरण।

यह कथा यहीं समाप्त हो गई है; किन्तु इस कथा के प्राण में जो अंतर्कथा है, उसी की बात कहता हूँ। उपर्युक्त घटना के पीछे कुछ वत्सर और जुड़ गये हैं। यह बंगला अब मुझे रहने के लिये दिया गया है। मैं अब अकेला ही इसमें रहता हूँ। कई सहस्र पुस्तकों के ज्ञान से आवृत मैं—लोग कहते हैं—प्रोफेसर हूँ। जीवन और जगत् का तत्त्वदर्शी! लेकिन मैं अपनी समस्या किससे कहूँ—अपना अंतर किसको खोलकर दिखलाऊँ? बच्चे सुनें तो हँसें और बीबी सुने तो कहे—पागल हो गये हो?

कभी-कभी रात के घोर सन्नाटे में स्वप्नाविष्ट-सा मैं अस्पष्ट ध्वनियां सुनने लगता हूँ। कोई खिलखिल हँस रही है। कोई धक्का देकर कह रही है—गा री पत्ती! और चूड़ियाँ खनक उठती हैं, छत कूटने लगती है और एक कोमल, अत्यन्त कोमल गायन स्वर फूट पड़ता है-निंदिया लागी.........।

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं, वे वहाँ से उठकर मेरे हृदय से आकर चिपक गये हैं!

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' | खुदाराम

हमारे कस्बे के इनायत अली कल तक नौमुसलिम थे। उनका परिवार केवल सात वर्षों से खुदा के आगे घुटने टेक रहा था। इसके पहले उनके सिर पर भी चोटी थी, माथे पर तिलक था और घर में ठाकुर जी थे। हमारे समाज ने उनके निरपराध परिवार को जबर्दस्ती मन्दिर से ढकेलकर मसजिद में भेज दिया था।

बात यों थी : इनायत अली के बाप उल्फत अली जब हिन्दू थे, देवनन्दन प्रसाद थे, तब उनसे अनजाने में एक अपराध बन पड़ा था। एक दिन एक दुखिया गरीब युवती ने उनके घर आश्रय माँगा। पता-ठिकाना पूछने पर उसने एक गाँव का नाम ले लिया। कहा—

"मैं बिलकुल अनाथ हूँ। मेरे मालिक को गुजरे छः महीने से ऊपर हो गये। जब तक वह थे, मुझे कोई फिक्र न थी। जमींदार की नौकरी से चार पैसे पैदा करके, वही हमारी दुनिया चलाते थे। उनके बदनसीब होने पर भी मैं किसी की चाकरी नहीं करती थी। अब उनके बाद, उसी गाँव में पेट के लिए परदा छोड़ते मुझे शर्म मालूम होने लगी। इसीलिए उस गाँव को छोड़ इस शहर में नौकरी तलाश रही हूँ। मुझे और कुछ नहीं चार रोटियाँ और चार गज कपड़े की जरूरत है। आपको भगवान ने चार *पैसे दिये हैं। मेरी हालत पर रहम कीजिए। मुझे अपने घर के एक कोने* में रहने और बाकी जिन्दगी ईश्वर का नाम लेने में बिताने दीजिए। आपका *भला होगा।"*

जात पूछने पर उसने अपने को अहीरिन बताया। देवनन्दनप्रसाद जी सरल हृदय के थे। स्त्री की हालत पर दया आ गयी। उनकी स्त्री ने भी

अहीरिन की मदद ही की। कहा–

"रख लो न। चौका-बर्तन किया करेगी, पानी भरेगी, दो रोटी खायगी और पड़ी रहेगी।"

अहीरिन रख ली गई। दो महीनों तक वह घर का काम-काज सँभालती रही। इसके बाद एक दिन एकाएक वज्रपात हुआ। न जाने कहाँ से ढूढ़ता-ढूढ़ता एक आदमी देवनन्दन जी के यहाँ आया। पूछने लगा–

"बाबू जी, आपने कोई नई मजदूरन रखी है?"

"क्यों भाई? तुम्हारे इस सवाल का क्या मतलब है?"

"बाबू जी, दो महीनों से मेरी औरत लापता है। मैं उसी की तलाश में चारों ओर की खाक छान रहा हूँ। जरा-सी बात पर लड़कर भाग खड़ी हुई। औरत की जात अपने हठ के आगे मर्द की इज्जत को कुछ समझती ही नहीं।"

इसी समय हाथ में घड़ा और रस्सी लिये वह अहीरिन घर से बाहर निकली। उसे देखते ही वह पुरुष झपट कर उसके पास पहुँचा।

"अरे फिरोजी! यह क्या? किसके लिए पानी भरने जा रही है?"

"इधर आओ जी।" जरा कड़े होकर देवनन्दन जी ने कहा—

"यह कैसा पागलपन है? तुम किसे फिरोजी कह रहे हो? वह हमारी मजदूरिन है। हमारे लिये पानी लेने जा रही है। उसका नाम फिरोजी नहीं रुक्मिनियाँ है। किसी गैर औरत का इस तरह अपमान करते तुम्हें शर्म नहीं आती?"

जोश में देवनन्दन जी इतना कह तो गये, मगर रुक्मिनियाँ के चेहरे पर नजर पड़ते ही उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उस पुरुष को देखते ही अहीरिन रुक्मिनियाँ का मुँह काला पड़ गया। वह काठमारी-सी जहाँ की तहाँ खड़ी रह गई।

रुक्मिनियाँ को फिरोजी कहने वाले ने देवनन्दन की ओर देखकर कहा–

क्या-बीबी

"बाबू जी, आपने धोका खाया । यह हिन्दू नहीं, मुसलमान है रुकमिनियाँ नहीं, मेरी भागी हुई बीबी फिरोजी है।"

देवनन्दन के काटो तो खून नहीं !

२

शाम को, घर के सरदारों के घूमने-फिरने, मिलने-जुलने के लि निकल जाने के बाद मुहल्ले की बूढ़ी औरतें और जवान लड़कियाँ अपने अपने दरवाजों पर बैठकर जोर-जोर से देवनन्दन और फिरोजी की चच करने लगीं।

"बाबा रे बाबा !" एक बूढ़ी ने राग अलापा—"औरत का ऐसा दीदा ? मर्द को छोड़कर दूसरे देश और दूसरे के घर पर चली आयी !"

"मुँहझौंसी थी तो तुकिन, बन गयी अहीरिन । मुसलमान औरतों में लाज नहीं होती, माँ ! वह तो इस तरह अपने मालिक को छोड़कर दूसरों के यहाँ चली आयी, मुझे तो घर के बाहर भी जाने में डर मालूम होता है । निगोड़ी औरत क्या थी, पतुरिया थी।" एक विवाहित लड़की ने कहा।

सामने के दरवाजे पर से दूसरी अधेड़ औरत ने कहा— .

"अब देखो रघुनन्दन के बाप का क्या होता है ! दो महीनों तक तुकिन के हाथ का पानी पीकर और उससे चौका-बर्तन करा कर उन्होंने अपना धरम खो दिया है । हमारे . . . . तो कह रहे थे कि अब उनके घर से कोई नाता न रखा जायगा।"

"नाता कैसे रखा जा सकता है !" पहली बूढ़ी ने कहा, "धरम तो कच्चा सूत होता है। जरा सा इधर-उधर होते ही टूट जाता है। फिर हमारा हिन्दू का धरम ! राम-राम ! जिसको छूना मना है, सुबह जिसका मुँह देखना पाप है, उसके हाथ से देवनन्दन ने जल ग्रहण किया डूब गया . . देवनन्दन का खान्दान डूब गया । अब उनसे खान-पान का नाता रख कौन अपना लोक-परलोक बिगाड़ेगा !"

विवाहिता लड़की बोली—

"यह बात शहर भर में फैल गई होगी। दो-चार आदमी जानते होते तो छिपाते भी। सुबह उस सुफ़िया का आदमी चोटी पकड़कर घौं-घौं पीटता हुआ उसे ले जा रहा था। सबने देखा, सब जान गये।"

बस। दूसरे दिन मुहल्ले के मुखिया ने देवनन्दन को बुलाकर कहा—

"देखो भाई, अब तुम अपने लिए किसी दूसरे कुएँ से पानी मँगाया करो।"

"क्यों ?"

"तुम अब हिन्दू नहीं, मुसलमान हो। दो महीने तक मुसलमानिन से पानी भराने और चौका-बर्तन कराने के बाद भी क्या तुम्हारा हिन्दू रहना सम्भव है ?"

"मैंने कुछ जान-बूझ कर तो मुसलमानिन के हाथ का पानी पिया नहीं। उसने मुझे धोखा दिया। इसमें मेरा क्या अपराध हो सकता है ?"

"भैया मेरे, हम हिन्दू हैं। कोई जान-बूझकर गो-हत्या करने के लिये गाय के गले में रस्सी नहीं बाँधता। फिर भी, बंधी हुई गाय के मरने पर बाँधने वाले को हत्या लगती है। प्रायश्चित्त करना पड़ता है।"

"यह ठीक है। उसके जाने के बाद ही मैंने तमाम मकान साफ़ कराया-लिपाया-पोताया है। मिट्टी के बर्तन बदलवा दिये हैं। धातु के बर्तनों को आग से शुद्ध कर लिया है। इस पर भी और जो कुछ प्रायश्चित्त कराना हो करा लो। मैं कहीं भागा तो जा नहीं रहा हूँ।"

प्रायश्चित्त-चर्चा चलने पर व्यवस्था के लिए पुरोहित और पण्डितों की पुकार हुई। बस, ब्राह्मणों ने चारों वेद, छः शास्त्र, छत्तीसों स्मृति और अठारहों पुराण का मत लेकर यह व्यवस्था दी कि, "अब देवनन्दन पूरे म्लेच्छ हो गये। यह किसी तरह भी हिन्दू नहीं हो सकते।"

उधर देवनन्दन की दुर्दशा का हाल सुनकर मुसलमानों में बड़ी उत्तेजना

[illegible]

से अपनी छाती खोल दी। कस्बे के सभी प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित मुसलमानों ने देवनन्दन को अपनी ओर बड़े प्रेम, बड़े आदर से खींचा।

"चले आओ ! हम जात-पात नहीं, केवल हक को मानते हैं। इसलाम में मुहब्बत भरी हुई है। खुदा गरीबपरवर है। हिन्दुओं की ठोकर खाने से अच्छा है कि हमारी पलकों पर बैठो.. ...मुसलमान हो जाओ।"

लाचार, समाज से अपमानित, परित्यक्त, पतित देवनन्दन सपरिवार अल्ला मियाँ की शरण में चले गये। वह और करते ही क्या ! मनुष्य स्वभाव से ही समाज चाहता है, सहानुभूति चाहता है, प्रेम चाहता है। हिन्दू समाज ने इन सब दरवाजों को देवनन्दन के लिए बन्द कर दिया। इतना हो जाने पर उनके लिए मुसलमान होने के सिवा दूसरा कोई पथ ही नहीं था। देवनन्दन, उल्फत अली बन गये और उनका पुत्र रघुनन्दन, इनायत अली।

देवनन्दन की छाती पर समाज ने ऐसा क्रूर धक्का मारा कि धर्मपरिवर्तन के नौ महीने बाद ही वे इस दुनिया से कूच कर गये।

३

जिन दिनों की घटना ऊपर लिखी गयी है, उन्हें भूत के गर्भ में गये सात वर्ष हो गये। तब से हमारे कस्बे की हालत अब बहुत कुछ बदल-सी गयी है। पहले हमारे यहाँ सामाजिक या राजनीतिक जीवन बिलकुल नहीं था। सभी पेट के धन्धे की धुन में व्यस्त थे। उन दिनों हमारी दस हजार की बस्ती में, क्लब या सोसाइटी के नाते तहसील का अहाता मात्र था, जहाँ नित्य सायंकाल नगर के दस-पाँच चापलूस धनी तहसीलदार से हें-हें करने के लिए या टेनिस खेलने के लिये एकत्र हुआ करते थे। आर्य-समाज का बदनाम नाम तो घर-घर था, मगर, सच्चा आर्य-समाजी एक भी न था। एक सज्जन आगरे के 'आर्यमित्र' के ग्राहक थे। वहीं स्वामी दयानन्द का नाम लेकर कभी-कभी नवयुवकों के विनोद के साधन बना करते थे। वह बनते तो थे आर्य-समाजी, मगर बिलकुल मौखिक। हमें ठीक याद है, वह

पुराने समाज की सभी प्रथा या कुप्रथाओं को मानते थे। एक बार उनकी स्त्री ने उनसे सत्यनारायण की कथा सुनने का आग्रह किया और उन्होंने अस्वीकार कर दिया। बस, इसी बात पर आर्य-समाजी पति के मुख पर सनातनी चण्डी झाड़ू फेरने, कालिख लगाने और चूना करने को तैयार हो गयी। तीन दिनों तक मुहल्ले वालों की नींद हराम हो गई। विवश होकर 'महाशयजी' को स्त्री के आगे झुकना पड़ा।

मगर, अब कस्बे का वातावरण बिलकुल परिवर्तित हो गया है। गत ...हयोग सहयोग आन्दोलन के प्रसाद से हमारा कस्बा भी बहुत कुछ जीवित उठा है। अब हमारे यहां बाकायदा आर्य-समाज-भवन है, और हैं उसके ...त्री तथा सभापति। एक पुस्तकालय भी है और उसके भी मन्त्री-सभापति ...। हिन्दी के अनेक पत्र अंग्रेजी के दो तीन दैनिक आते हैं। सैकड़ों बालक, ...क और वृद्ध अखबार-जीवी बन गये हैं। ऐसे अखबार-जीवियों की संख्या ...तेदिन बढ़ती ही जा रही है।

उस दिन आर्य-समाज के मन्त्री पण्डित वासुदेव शर्मा समाज-भवन में ...ठे हो कोई उर्दू अखबार पढ रहे थे। भवन के बाहर—बरामदे में दो ...गवी 'महाशय' पायजामा और कमीज पहने साथ-सन्ध्या कर रहे थे। उसी ...मय एक, दुबला-पतला लम्बा-सा पुरुष भवन मे आया। उसकी आहट ... शर्मा जी ने चश्माच्छादित आँखो से उसकी ओर देखा। पहचान गये—

"कहो मियाँ इनायत अली, आज इधर कैसे ?"

"आप ही की सेवा मे कुछ निवेदन करने आया हूँ।"

शर्माजी ने चश्मा उतार लिया। उसे कुरते के कोने से साफ करने ...बाद पुनः नाक पर चढ़ाते-चढ़ाते बोले—

"भाई, इनायत, बड़ी शुद्ध हिन्दी बोलते हो ?"

"जी हाँ, शर्मा जी, मैं बहुत शुद्ध हिन्दी बोल सकता हूँ। इसका कारण ...ही है कि मेरी नसों में बहुत शुद्ध हिन्दू रक्त बह रहा है। समाज ने जब-

वंसी मेरे पिता को मुसलमान होने के लिए विवश किया, नहीं तो, आज मैं भी उतना ही हिन्दू होता, जितने आप या कोई भी दूसरा हिन्दुत्व का अभिमानी। खैर, मुझे आपसे कुछ कहना है.....।"

"कहिए, क्या आज्ञा है ?"

"मैं पुनः हिन्दू होना चाहता हूँ।"

'हिन्दू होना ?" आश्चर्य से मुख विस्फारित कर शर्मा जी ने पूछा।

"जी हाँ ! अब मुसलमान रहने में लोक-परलोक दोनों का नाश दिखाई पड़ता है। इसलिए नहीं कि उस धर्म में कोई विशेषता नहीं है। बल्कि इसलिये कि मेरा और मेरे परिवार का हृदय मुसलमान धर्म के योग्य नहीं। अनन्त काल का हिन्दू-हृदय हिन्दू सभ्यता का पक्षपाती शान्त हृदय–मुसलमानी रीति-नीति और सभ्यता का उपयोग करने में बिल्कुल अयोग्य साबित हुआ है। मेरी स्त्री नित्य प्रातःकाल खुदा-खुदा नहीं, राम-राम जपती है। मैं मुसलमान रहकर क्या करूँगा ? मेरी माता गंगा-स्नान और बदरिकाश्रम यात्रा के लिए तड़पा करती हैं। मेरा हृदय न तो उन्हें मक्का मदीना का भक्त बनाने की धृष्टता कर सकता है और न वह बन ही सकती हैं। मैं मुसलमान रहकर क्या करूँगा ? मैं स्वयं मसजिद में जाकर हृदय के मालिक को याद नहीं कर सकता। मेरा हिन्दू हृदय मसजिद के द्वार पर पहुँचते ही एक विचित्र स्पन्दन करने लगता है। उस स्पन्दन का अर्थ खुदा और मसजिद वाले के प्रति अनुराग नहीं हो सकता, घृणा भी नहीं हो सकती। वह स्पन्दन घृणा और अनुराग के मध्य का निवासी है। इन्हीं सब कारणों से बहुत सोच-समझकर अब मैंने शुद्ध होकर हिन्दू होने का निश्चय किया है।"

पंजाबी महाशय भी सन्ध्या समाप्त कर ओ३म्-ओ३म् करते हुये भीतर आ गये। शर्मा जी ने इनायत अली उर्फ रघुनन्दन का परिचय देते हुये उनके प्रस्ताव पर उन दोनों महाशयों की सम्मति माँगी।

''धन्य हो महाशय जी !" एक महाशय बोले—"ऋषि दयानन्द की

किरपा होगी तो हमारे वे सब बिछड़े भाई एक न एक दिन फिर अपने आर्य धरम में चले आयेंगे । इन्हे जरूर शुद्ध कीजिये ।"

४

हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य का बाजार गर्म होने के एक महीना पूर्व एक विचित्र पुरुष हमारे कस्बे मे आये । उनकी अवस्था पचास वर्षों से अधिक जान पड़ती थी । वह वस्त्र के नाम पर केवल लँगोटी धारण किया करते थे। वही उनकी सारी गृहस्थी और सम्पत्ति थी । उनका मुख तो रोबीला नहीं था, पर उस पर विचित्र आकर्षण दिखाई देता था । दाढ़ी फुट भर लम्बी थी । सर के बाल भी बड़े-बड़े थे ।

उनमें एक ऐसा चमत्कार था, जिसमे कस्बे के छोटे-छोटे लड़के उन-पर जान दिया करते थे । हाँ, उनका नाम बताना तो भूल ही गया । वह अपने को 'सुदाराम' कहा करते थे । सुदाराम गली मे आये है, यह सुनते ही लड़कों की मण्डली जान छोड़कर उनकी ओर झपट पड़ती—"सुदाराम, पैसे दो ! सुदाराम, पैसे दो !" की आवाज से गली गूँज उठती थी । पहले तो सुदाराम दो-चार बार लड़कों को मुँह बिगाड़-बिगाड़कर डराने की कोशिश करते, फिर दो-तीन बच्चो को पीठ पर चढ़ाकर, बगल मे दबाकर या कन्धो पर उठाकर भाग खड़े होते "भागा ! भागा ! हो हो हो हो ! लेना जी !" आदि कहते हुये अन्य लड़के सुदाराम को रगेद लेते । अन्त में लाचार हो वह खड़े हो जाते, बच्चों को पीठ या कन्धे के नीचे उतार देते और पूछने लगते —

"बन्दरो ! क्या चाहिये ?"

"पैसे सुदाराम, पैसे !"

सुदाराम बड़े ज़ोर से हँसने-हँसने वाली मुट्ठी को बन्द कर इधर-उधर हाथ चलाने लगते । चारों ओर झन-झन की आवाज गूँज उठती । लड़के प्रसन्न होकर पैसे लूटने लगते—और सुदाराम सो दो ग्यारह हो जाते।

खुदाराम को सबसे अधिक इन लड़कों ने मशहूर किया ।

इसके बाद एक घटना और हुई, जिससे उनकी शोहरत चौगुनी बढ़ गयी । किसी गरीब चमार के पाँच वर्ष के पुत्र को हैजा हो गया था । उसके पास वैद्य, हकीम या डाक्टर बाबू के लिये पैसे नहीं थे । कई जगह जाने पर भी किसी ने उस अभागे की सुध न ली । बेचारा लड़का उपचार के अभाव से मरने लगा ।

उसी समय उधर से खुदाराम लड़कों की मण्डली के साथ गुजरे । चमार की स्त्री को दरवाजे पर बैठकर रोते देख वह उसके सामने आकर खड़े हो गये । पूछने लगे—

"क्यों रो रही है ?"

स्त्री ने उत्तर तो कुछ न दिया, हां, स्वर को 'पंचम' से 'निषाद' कर दिया ।

"क्यों रोती है ?" बोलती क्यों नहीं, तुझे भी पैसे चाहिये ?"

"पैसे नहीं" स्त्री ने इस बार हिचकते-हिचकते उत्तर दिया, "दवा चाहिये । मेरा लाल हैजे से मर रहा है ।"

"तेरे बच्चे को हैजा हो गया है ? पगली कहीं की । इतना खाना क्यों खिला दिया ? मुझे तो कभी कुछ खिलाता नहीं । कुछ खिला तो तेरा बच्चा अभी चंगा हो जाय ।"

"बाबा, मेरे घर मे तुम्हारे खाने लायक है ही क्या ! कहो तो चने खिलाऊँ !"

"ला, ला ! जो कुछ भी हो, दौड़कर ले आ ! तेरा बच्चा अभी अच्छा हो जायगा ।"

स्त्री अपने मकान मे गयी और एक छोटी सी पोटली में पाव-डेढ़ पाव भुने चने ले आयी । खुदाराम ने पोटली लेकर बालक-मण्डली को चने दान करना आरम्भ किया । देखते-देखते पोटली साफ हो गयी । केवल चार-पाँच

चने बच रहे। उन्हें स्त्री के हाथ में देते हुए उन्होंने कहा—

"इन चनों को पीसकर बच्चे को पिला दे। यह उसका हिस्सा है। ले जा।"

दूसरे दिन उसी चमारिन ने कस्बे भर में यह बात मशहूर कर दी कि खुदाराम पागल नहीं, होशियार हैं। मामूली आदमी नहीं, फकीर हैं, देवता हैं।

फिर तो हिन्दू-मुसलमान दोनों जाति के लोगों ने—विशेषतः स्त्रियों ने खुदाराम को न जाने क्या-क्या बना डाला। कितनों के बच्चे उनकी ऊटपटाँग औषधियों से अच्छे हो गये। कितनों को खुदाराम की कृपा से नौकरी मिल गई। कितने मुकदमें जीत गये। कस्बा का कस्बा उन्हें पूजने लगा।

मगर, खुदाराम ज्यों के त्यों रहे। उनका दिन-रात का चारों ओर लड़कों की मण्डली के साथ घूमना न रुका। अच्छे से अच्छे धनी भी उन्हें कपड़े न पहना सके। किसी के आग्रह करने पर वह कपड़े-धोती, कुरता-टोपी—पहन तो लेते मगर, उसके घर से आगे बढ़ते ही टोपी किसी लड़के के मस्तक पर होती, धोती किसी गरीब के झोपड़े पर और कुर्ता किसी भिखमंगे के तन पर। किसी-किसी दिन तो दो-दो बजे रात को किसी गली में खुदाराम की कण्ठ-ध्वनि सुनाई पड़ती—

तू है मेरा खुदा, मैं हूँ तेरा खुदा,
तू मुदा मैं मुदा, फिर जुदाई कहाँ !

५

सात आदमी आपस में बात करते हुए समाज-भवन की ओर जा रहे थे। उनमें एक तो समाज के मन्त्री महाशय थे, दो हमारे परिचित पंजाबी और चार बाहर से आये हुए दूसरे आर्य-समाजी थे। बातें इस प्रकार हो रही थीं—

"मुसलमान लोग भरसक इनायत अली को हिन्दू न होने देंगे।"

"क्यों न होने देंगे ?" अजी वह जमाना लद गया। यहाँ के सभी

हिन्दू हमारे साथ हैं।"

"लड़ाई हो जाने का भय है।"

"अगर इस बात को लेकर कोई लड़े तो लड़े। बेवकूफी का भार लड़ाई छेड़ने वाले पर होगा।"

"अच्छा, हम लोग इनायत के परिवार को केवल शुद्ध करें—वेद भगवान की सवारी निकालने से लाभ!"

"कई एक साथ बोल उठे—"वाह! वेद भगवान की सवारी क्यों न निकालें? हम अपने बिछुड़े भाई को पायेंगे। ऐसे मौके पर आनन्द-मंगल मनाने से डरें क्यों!"

"सवारी पर", पहले महाशय ने कहा—"मुसलमानों ने आक्रमण करने का निश्चय कर लिया है। यह मैं सच्ची खबर सुना रहा हूँ।"

"देखो भाई, इस तरह दबने से काम नहीं चलेगा। हम किसी के धार्मिक कृत्यों में बाधा नहीं देते, तो कोई हमारे पथ में रोड़े क्यों डालेगा? फिर, अगर उन्होंने छेड़ा, तो देखा जायगा? भय के नाम पर धर्म कभी न छोड़ा जायगा।"

इसी समय बगल की एक गली से लँगोटी लगाये खुदाराम निकले। वह यही गुनगुना रहे थे—

तू है मेरा खुदा, मैं हूँ तेरा खुदा,
तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहाँ।

मन्त्री महाशय ने पुकारा—

"खुदाराम!"

"चुप रहो!" खुदाराम ने कहा—"मैं कोई युक्ति सोच रहा हूँ।"

"कैसी युक्ति सोच रहे हो, खुदाराम? हमें भी तो बताओ।"

"सोच रहा हूँ कि क्या उपाय करूँ कि खुदा-खुदा में लड़ाई न हो। तुम लोग लड़ो"

"नहीं, लड़ने का विचार नहीं है, पर, सवारी जरूर निकलेगी।"

"खाना नहीं खाऊँगा, पर मुँह में कौर जरूर डालूँगा। हा हा हा हा ! ाही मतलब है न ?"

"लाचारी है, खुदाराम।"

"तो धर्म के नाम पर खून की नदी बहेगी ? हा हा हा हा। तुम लोग इन्सान क्यों हुए ? तुम्हें तो भालू होना चाहिए था। शेर होना चाहिए था, भेड़िया होना चाहिए था। वैसी अवस्था में तुम्हारी रक्त-पिपासा मजे में शान्त होती। धर्म के नाम पर लड़ने वाले इन्सान क्यों होते हैं ?"

अपरिचित आगन्तुक आर्यों ने शर्मा जी से पूछा–

"क्या यह पागल है ?"

"हाँ-हाँ", खुदाराम ने कहा–"कुरान नहीं पढ़ा है, इसलिए पागल है, सत्यार्थ प्रकाश नहीं देखा है, इसलिए पागल है, धर्म के नाम खूँरेजी नहीं पसन्द करता, इसलिए पागल है, खद्दर का कुर्त्ता नहीं पहनता इसलिए पागल, है लेक्चर नहीं दे सकता, इसलिए खुदाराम जरूर पागल है। हा हा हा हा ! खुदाराम पागल है। मुसलमान कहते हैं–"तू पागल है, इस बीच में न पड़ !" हिन्दू भी यही कहते हैं। अच्छी बात है—लड़ो ! अगर होशियारी का नाम लड़ना ही है तो—लड़ो।"

तू भी इन्सान है, मैं भी इन्सान हूँ,
गर सलामत हैं हम, तो खुदाई कहाँ।
तू है मेरा खुदा, मैं हूँ तेरा खुदा,
तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहाँ।

खुदाराम नाचता-कूदता हो हो हो करता अपने रास्ते लगा।

६

कस्बे के हजारों हिन्दू-मर्द समाज-मंदिर की ओर वेद भगवान के जुलूस में शामिल होने के लिए चले गये। मुसलमान पुरुष भी, पुराने पीर की मस-

जिद में, जुलूस में बाधा डालने के लिये मसल्ल एकत्र हो गये । हिन्दू औ
मुसलमान दोनों के घरों पर या तो बूढ़े बचे थे या बच्चे और स्त्रियाँ । घ
घर का दरवाजा भीतर से बन्द था ।

एक मुसलमान के दरवाजे पर किसी ने आवाज दी—

"माँ !"

"कौन है ?"

"जरा बाहर आओ, माँ ! मैं हूँ खुदाराम ।"

दरवाजा खोलकर बूढ़ी बाहर निकली ।

"क्या है खुदाराम ? खाना चाहिए ?"

'नहीं माँ, आज एक भीख माँगने आया हूँ—देगी न ?"

"क्या है फकीर ? तुम्हें क्या कमी है ? माँगो, तुमने मेरी बेटी क
जान बचायी है । हम हमेशा तुम्हारे गुलाम रहेंगे । माँगो, क्या लोगे ?"

"पहले कसम खा—देगी न ?"

"कसम पाक परवरदिगार की । खुदाराम, तुम्हारी चीज अगर मेरे
इमकान में होगी, तो जरूर दूँगी ।"

"तो, चलो मेरे साथ ! हम लोग हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा रोकें।
बच्चों को भी ले लो । मैं मुहल्ले भर की—कस्बे भर की—औरतों-बच्चों
की पलटन लेकर दोनों जातियों के पुरुषों पर आक्रमण करूँगा, उन्हें खुदा
या धर्म के नाम पर लड़ने से रोकूँगा ।"

मुसलमान जननी अवाक् सी खड़ी रह गयी ! खुदाराम कहता क्या है ?

"चुप क्यों हो गयी, माँ ? तूने मुझे भीख देने की कसम खायी है । मैं
तेरे हित की बात कहता हूँ । इस रक्तपात में पुरुषों के नहीं, स्त्रियों के कलेजे
का खून बहाया जाता है । स्त्रियाँ विधवा होती हैं, माताएँ अपने बच्चे खोती
हैं, बहिनें अपमानित होती हैं । पुरुषों की यह ज्यादती तुम्हीं लोगों के रोके
से रुकेगी । चलो ! उन पत्थरों के आगे रोओ और उन्हें लड़ने से रोको ।

उन्हें बताओ कि तुम्हारे शरीर तुम्हारी माताओं की धरोहर हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका नाश करने वाले तुम कौन हो? देर न करो, नहीं तो सब चौपट हो जायगा।"

एक ओर उत्तेजित मुसलमान खुदा के नाम पर ईंट और डण्डे चलाने पर उतारू थे, दूसरी ओर हिन्दू वेद भगवान का जुलूस, शुद्ध (इनायत अली) रघुनन्दन प्रसाद के परिवार के साथ और हजारों हिन्दुओं के साथ मसजिद के पास डटा था। युद्ध छिड़ने ही वाला था कि गंगा की कलकल धारा की तरह हजारों स्त्रियों की कण्ठ-ध्वनि मुसलमान दल के पीछे सुनाई पड़ी। पहले खुदाराम गाते और उनके बाद स्त्रियाँ उसी पद को दुहराती थीं—

तू है मेरा खुदा, मैं हूँ तेरा खुदा,
तू खुदा मैं खुदा, फिर जुदाई कहाँ।

छोटे-छोटे बच्चों के कण्ठ की उस कोमलता के आगे, माताओं के कण्ठ की करुण धारा के आगे, उत्तेजित युवकों के हृदय की राक्षसता मुग्ध होकर, पुलकित होकर और नतमस्तक होकर खड़ी हो गयी! मुसलमान-दल ने स्त्रियों के इस जुलूस के लिये चुपचाप रास्ता दे दिया। हिन्दू-दल वाले आँखें फाड़-फाड़ कर खुदाराम और उसकी स्वर्गीय सेना की ओर देखने लगे। उस सेना में हरेक हिन्दू और प्रत्येक मुसलमान के घर की मातायें और बहनें, बेटे और बेटियाँ थीं।

"तुम लोग यहाँ क्यों आयीं?" मुसलमानों ने भी पूछा।

"तुम लोग यहाँ क्यों आयीं?" हिन्दुओं ने भी प्रतिध्वनि की तरह मुसलमानों के प्रश्न को दुहराया। एक मुसलमान बूढ़ी आगे बढ़ी—

"हम आयी हैं तुम्हें मरने से बचाने के लिये। तुम हमारे बेटे हो—वे बेटे, जिन्हें हमने रात-रात भर जागकर, भूखों रहकर, दुआएँ माँग कर अपनी आँखों को खुश रखने के लिए, दिल को शांत रखने के लिए इतना बड़ा किया है। तुम्हारे लिए हम खुदा की इबादत करती हैं—तुम्हीं हमारे

खुदा हो।"

"यह क्या हो रहा है?" धर्म के नाम पर खून बहाने की क्या जरूरत है? तुम्हें यह शरारत किस शैतान ने सिखायी है? बच्चों तुम्हारी माएँ तुम्हें खोकर अन्धी हो जायेंगी। उनकी जिन्दगी खराब हो जायगी। बहिश्त पाने पर भी तुम्हें चैन न मिल सकेगा। लड़ मत! खून से ताजो शैतान भले ही खुश हो जाय, पर, खुदा कभी नहीं खुश हो सकता। खुदा अगर खून पसन्द करता, तो हमारे वजू करने के लिए पानी बनाकर खून ही बनाता। गंगा खूनी गंगा होती, समन्दर खून का समन्दर होता। खून के फेर में न पड़ो, मेरे कलेजे! खुदा खून नहीं पसन्द करता।"

"वेद के पागलो!" खुदाराम ने हिन्दुओं को ललकारा—"चलो, ले जाओ अपना जुलूस? माताएँ तुम्हें रास्ता देती हैं।"

मुसलमानों के हाथ के शस्त्र नीचे झुक गये। बाजा बजाने वाले बाजा बजाना भूल गये। माताओं ने रास्ता बनाया और वेद भगवान की सवारी-*हजारों मंत्र-मुग्ध हिन्दुओं के साथ निकल गयी।*

सावन के बादल की तरह मधुर ध्वनि से खुदाराम पुनः गरजे, माता वसुन्धरा की तरह माताओं के हृदय से पुनः प्रतिध्वनि हुई—

> *तूने मन्दिर बनाया, तू भगवान है,*
> मैंने मसजिद उठायी, मैं रहमान हूँ।
> *तू भी भगवान है, मैं भी भगवान हूँ,*
> तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहाँ।

इस पवित्र जुलूस के नेता थे खुदाराम, उनके पीछे हिन्दू-मुसलमान बच्चे, बच्चों के पीछे *दोनों जाति की मातायें* और सबके पीछे मुसलमान पुरुष—जुलूस के सशस्त्र रक्षकों की तरह चल रहे थे। प्रकृति पुलकित-*कलेवरा थी, तारिकायें खिलखिला रही थीं, चन्द्रमा हँस रहा था।* यह हृदय-पृथ्वी का स्वर्ग था।

यशपाल | मक्रील

गर्मी का मौसम था। 'मक्रील' की सुहावनी पहाड़ी। आबोहवा में छुट्टी के दिन बिताने के लिए आयी सम्पूर्ण भद्र जनता खिचकर मोटरों के अड्डे पर, जहाँ पंजाब से आगे वाली सड़क की गाड़ियाँ ठहरती हैं—एकत्र हो रही थी। सूर्य पश्चिम की ओर देवदारों से छाई पहाड़ी की चोटी के पीछे सरक गया था। सूर्य का अवशिष्ट प्रकाश चोटी पर उगे देवदारों से ढकी आग की दीवार के समान जान पड़ता था।

ऊपर आकाश में मोर-पूँछ के आकार में दूर-दूर तक सिन्दूर फैल रहा था। उस गहरे अर्गवनी रंग के पर्दे पर ऊँची, काली चोटियाँ निश्चल, शान्त और गम्भीर खड़ी थीं। सन्ध्या के झीने अँधेरे में पहाड़ियों के पार्श्व के वनों से पक्षियों का कलरव तुमुल परिमाण में उठ रहा था। वायु में चीड़ की तीखी गन्ध भर रही थी। सभी ओर उत्साह, उमंग और चहल-पहल थी। भद्र महिलाओं और पुरुषों के समूह राष्ट्र के मुकुट उज्ज्वल करने वाले कवि के सम्मान के लिए उतावले हो रहे थे।

यूरोप और अमरीका ने जिसकी प्रतिभा का लोहा मान लिया, जो देश के इतने अभिमान की सम्पत्ति है, वही कवि 'मक्रील' में कुछ दिन स्वास्थ्य सुधारने के लिए आ रहा है। मक्रील में अभी राष्ट्र-अभिमानी जनता पलकों के पाँवड़े डाल उसकी अगवानी के लिए आतुर हो रही थी।

पहाड़ियों की छाती पर खिंची धूसर लकीर-सी सड़क पर दूर धूल का एक बादल-सा दिखलाई दिया। जनता की उत्सुक नजरें और उँगलियाँ उस ओर उठ गईं। क्षण भर में धूल के बादल को फाड़ती हुई काले रंग

की एक गतिमान वस्तु दिखाई दी। वह एक मोटर थी। आनन्द की हिलोर से जनता का समूह लहरा उठा। देखते ही देखते मोटर आ पहुँची।

जनता की उन्मत्तता के कारण मोटर को दस कदम पीछे ही रुक जाना पड़ा—'देश के सिरताज की जय!' 'सरस्वती के वरद पुत्र की जय!' 'राष्ट्र के मुकुट-मणि की जय!' के नारों से पहाड़ियाँ गूँज उठीं।

मोटर फूलों से भर गई। बड़ी चहल-पहल के बाद जनता से घिरा हुआ, गजरों के बोझ से गर्दन झुकाये, शनैः-शनैः कदम रखता हुआ मक्रील का अतिथि मोटर के अड्डे से चला।

उत्साह से बावली जनता विजयनाद करती हुई आगे पीछे चल रही थी। जिन्होंने कवि का चेहरा देख पाया, वे भाग्यशाली विरले ही थे। 'धवल- गिरि' होटल में दूसरी मंजिल पर कवि को टिकाने की व्यवस्था की गई थी। वहाँ उसे पहुँचा, बहुत देर तक उसके आराम में व्याघात कर, जनता अपने स्थान को लौट आई।

क्वार की त्रयोदशी का चन्द्रमा पार्वत्य प्रदेश के निर्मल आकाश में ऊँचा उठ अपनी शीतल आभा से आकाश और पृथ्वी को स्तम्भित किये था। उस दूध की बौछार में 'धवलगिरि' की हिमधवल दोमंजिली इमारत चाँदी की दीवार-सी चमक रही थी। होटल के आँगन की फुलवारी में खूब चाँदनी थी, परन्तु उत्तर-पूर्व के भाग में इमारत के बाजू की छाया पड़ने से अँधेरा था। बिजली के प्रकाश से चमकती खिड़कियों के शीशों और पर्दों के पीछे से आने वाली मर्मर-ध्वनि तथा नौकरों के चलने-फिरने की आवाज के अतिरिक्त सब शान्त था।

उस समय इस अँधेरे बाजू के नीचे के कमरे में रहने वाली एक युवती फुलवारी के अन्धकारमय भाग में एक मर्री के पेड़ के समीप खड़ी दूसरी मंजिल के चन्द्र-तोरणों से सजी उन उज्ज्वल खिड़कियों की ओर दृष्टि लगाये थी जिनमें सम्मानित कवि को ठहराया गया।

वह युवती भी उस आवेगमय स्वागत में सम्मिलित थी। पुलकित हो उसने भी 'कवि' पर फूल फेंके थे। जयनाद भी किया था। उस घमासान भीड़ में समीप पहुँच एक आँख कवि को देख लेने का अवसर उसे न मिला था। इसी साध को मन में लिये उस खिड़की की ओर टकटकी लगाये खड़ी थी। काँच पर कवि के शरीर की छाया उसे जब-तब दिखाई पड़ जाती।

स्फूर्तिप्रद भोजन के पश्चात् कवि ने बरामदे में आ काले पहाड़ों के ऊपर चन्द्रमा के मोहक प्रकाश को देखा। सामने सँकरी-धुँधली घाटी में बिजली की लपक की तरह फैली हुई मक्रील की धारा की ओर उसकी नजर गई। नदी के प्रवाह की गम्भीर घरघराहट को सुन वह सिहर उठा। कितने ही क्षण मुँह उठाये वह मुग्ध-भाव से खड़ा रहा। मक्रील नदी के उद्दाम प्रवाह को उस उज्ज्वल चाँदनी में देखने की इच्छा से कवि की आत्मा व्याकुल हो उठी। आवेश और उमंग का वह पुतला सौन्दर्य के इस आह्वान की उपेक्षा न कर सका।

सरो वृक्ष के समीप खड़ी युवती पुलकित भाव से देश-कीर्ति के उस उज्ज्वल नक्षत्र को प्यासी आँखों से देख रही थी। चाँद के धुँधले प्रकाश में इतनी दूर से उसने जो भी देख पाया, उसी से सन्तोष की साँस ले उसने श्रद्धा से सिर नवा दिया। इसे ही अपना सौभाग्य समझ वह चलने को थी कि लम्बा ओवरकोट पहने, छड़ी हाथ में लिये, दाईं ओर के जीने से कवि नीचे आता दिखाई पड़ा। पल भर में कवि फुलवारी में आ पहुँचा।

फुलवारी में पहुँचने पर कवि को स्मरण हुआ, ख्यातनामा मक्रील नदी का मार्ग तो वह जानता ही नहीं। इस अज्ञान की अनुभूति से कवि ने दायें-बायें सहायता की आशा से देखा। समीप खड़ी एक युवती को देख, भद्रता से टोपी छूते हुए उसने पूछा "आप भी इसी होटल में ठहरी हैं?"

सम्मान से सिर झुकाकर युवती ने उत्तर दिया—"जी हाँ!"

झिझकते हुए कवि ने पूछा—"मक्रील नदी समीप ही किस ओर है,

यह शायद आप जानती होंगी ।"

उत्साह से कदम बढ़ाते हुए युवती बोली—"जी हाँ, यही सौ कदम पर पुल है ।" और मार्ग दिखाने के लिए वह प्रस्तुत हो गई ।

युवती के खुले मुख पर चन्द्रमा का प्रकाश पड़ रहा था । पतली भँवों के नीचे बड़ी-बड़ी आँखों में मञ्जीम की उज्ज्वलता झलक रही थी ।

कवि ने संकोच से कहा—"न, न, आपको व्यर्थ कष्ट होगा ।"

गौरव से युवती बोली—"कुछ भी नहीं—यही तो है, सामने !"

··उजली चाँदनी रात में···संगमर्मर की सुघड़, सुन्दर, सजीव मूर्ति-सी युवती···साहसमयी, विश्वासमयी मार्ग दिखाने चली··सुन्दरता के याचक कवि को । कवि की कविता-वीणा के सूक्ष्म तार स्पन्दित हो उठे·· सुन्दरता स्वयं अपना परिचय देने चली है···सृष्टि सौंदर्य के सरोवर की लहर उसे दूसरी लहर से मिलाने ले जा रही है—कवि ने सोचा ।

सौ कदम पर मञ्जीम का पुल था । दो पहाड़ियों के तंग दर्रे में से उद्दाम वेग और घनघोर शब्द से बहते हुए जल के ऊपर तारों के रस्सों में झूलता हल्का-सा पुल लटक रहा था । वे दोनों पुल के ऊपर जा खड़े हुए । नीचे तीव्र वेग से लाखों करोड़ों पिघले हुए चाँद बहते चले जा रहे थे, पार्श्व की चट्टानों से टकराकर वे फेनिल हो उठते । फेनराशि से दृष्टि न हटा कवि ने कहा—"सौन्दर्य उन्मत्त हो उठा है ।" युवती को जान पड़ा, मानों प्रकृति मुखरित हो उठी है ।

कुछ क्षण पश्चात् कवि बोला— 'आवेग में ही सौन्दर्य का चरम विकास है । आवेग निकल जाने पर केवल कीचड़ रह जाता है ।"

युवती तन्मयता से उन शब्दों को पी रही थी । कवि ने कहा—"अपने जन्म-स्थान पर मञ्जीम न इतनी वेगवती होगी, न इतनी उद्दाम । शिशु की लटपट चाल से वह चलती होगी, समुद्र में पहुँच वह प्रौढ़ता की शिथिल गम्भीरता धारण कर लेगी ।

"अरी मक्रील ! तेरा समय यही है। फूल न खिल जाने से पहले इतना सुन्दर होता है और न तब जब उसकी पँखुड़ियाँ लटक जायें। उसका असली समय यही है, जब वह स्फुटोन्मुख हो। मधुमाखी उसी समय उस पर निछावर होने के लिए मतवाली हो उठती है।" एक दीर्घ निश्वास छोड़, आँखें झुका, कवि चुप हो गया।

मिनट पर मिनट गुजरने लगे। सर्द पहाड़ी हवा के झोंके से कवि के वृद्ध शरीर को समय का ध्यान आया। उसने देखा, मक्रील की फेनिल धवलता युवती की मुघड़ता पर विराज रही है। एक क्षण के लिए कवि 'घोर शब्दमयी प्रवाहमयी' युवती को भूल मूक युवती का सौन्दर्य निहारने लगा। हवा के दूसरे झोंके से सिहर कर वह बोला "समय अधिक हो गया है, चलना चाहिये।"

लौटते समय मार्ग में कवि ने कहा-"आज त्रयोदशी के दिन यह शोभा है। कल और भी अधिक प्रकाश होगा। यदि असुविधा न हो, तो क्या कल भी मार्ग दिखाने आओगी ?", और स्वयं ही सकोच के चाबुक की चोट खाकर वह हँस पड़ा।

युवती ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"अवश्य।"

सर्द हवा से कवि का शरीर ठिठुर गया था। कमरे की सुखद उष्णता में उसकी जान में जान आई। भारी कपड़े उतारने के लिए वह परिधान की मेज के सामने गया। सिर से टोपी उतार उसने ज्यों ही नौकर के हाथ में दी, बिजली की तेज रोशनी से सामने आईने में दिखाई पड़ा, मानो उसके सिर के बालों पर राज ने चूने से भरी कूची का एक पोत दे दिया हो और धूप में सुखाये फल के समान झुर्रियों से भरा चेहरा !

नौकर को हाथ के संकेत से चले जाने को कह वह दोनों हाथों से मुँह ढक कुर्सी पर गिर-सा पड़ा। मुँदी हुई पलकों में से उसे दिखाई दिया—चाँदनी में संगमर्मर की उज्ज्वल मूर्ति का सुघड़ चेहरा, जिस पर यौवन की

पूर्णता छा रही थी, मक्रील का उन्मादभरा प्रवाह ! कवि की आत्मा चीख उठी—यौवन ! यौवन !!

ग्लानि की राख के नीचे बुझती चिनगारियों को उमंग के पंखे से सजग कर, चतुर्दशी की चाँदनी में मक्रील का नृत्य देखने के लिये कवि तत्पर हुआ। घोषमयी मक्रील को कवि के यौवन से कुछ मतलब न था, और 'मूक मक्रील' ने पूजा के धूप-दीप के धूम्रावरण में कवि के नख-शिख को देखा ही न था। इसलिये वह दिन के समय संसार की दृष्टि से बचकर अपने कमरे में ही पड़ रहा। चाँदनी खूब गहरी हो जाने पर मक्रील के पुल पर जाने के लिये वह शंकित हृदय से फुलवारी में आया। युवती प्रतीक्षा में खड़ी थी।

कवि ने धड़कते हुये हृदय से उसकी ओर देखा—आज शाल के बदले वह खुतरी रंग का ओवरकोट पहने थी, परन्तु उस गौर, सुघड़ नख-शिख को पहचानने में भूल हो सकती थी !

कवि ने गद्‌गद्‌ स्वर से कहा—"ओहो ! आपने अपनी बात रख ली। परन्तु इस सर्दी में कुसमय ! शायद उसके न रखने में ही अधिक बुद्धिमानी होती। व्यर्थ कष्ट क्यों कीजिएगा ? . . . . आप विश्राम कीजिये।"

युवती ने सिर झुका उत्तर दिया—"मेरा अहोभाग्य है, आपका सत्संग पा रही हूँ।"

कंटकित स्वर से कवि बोला—"सो कुछ नहीं, सो कुछ नहीं।"

पुल के समीप पहुँच कवि ने कहा—"आपकी कृपा है, आप मेरा साथ दे रही हैं।...संसार में साथी बड़ी चीज है।" मक्रील की ओर संकेत कर, "यह देखिए, इसका कोई साथी नहीं, इसलिए हाहाकार करती साथी की खोज में दौड़ती चली जा रही है।"

स्वयं अपने कथन की तीव्रता के अनुभव से संकुचित हो हँसने का असफल प्रयत्न कर, अप्रतिभ हो वह प्रवाह की ओर दृष्टि गड़ाये खड़ा रहा। आँखें बिना ऊपर उठाये ही उसने धीरे-धीरे कहा—'पृथ्वी की परिक्रमा कर

गया हूँ...कल्पना मे सुख की सृष्टि कर जब मैं गाता हूँ, ससार पुलकि
। उठता है। काल्पनिक वेदना के मेरे आर्तनाद को सुन ससार रोने लग
है। परन्तु मेरे वैयक्तिक सुख-दुःख से संसार को कोई सम्बन्ध नहीं।
अकेला हूँ। मेरे सुख को बटाने वाला कहीं कोई नहीं, इसलिये वह विकास
पा तीव्र दाह बन जाता है। मेरे दुःख का दुर्दम वेग असह्य हो जब उ
पड़ता है, तब भी संसार उसे विनोद का ही साधन समझ बैठता है। मैं पि
में बन्द बुलबुल हूँ। मेरा चहकना ससार सुनना चाहता है। मैं सुख
पुलकित हो गाता हूँ, या दु.ख से रोता हूँ, इसकी चिन्ता किसी को नहीं.

"काश ! जीवन मे मेरे सुख-दुःख का कोई एक अवलम्ब होत
मेरा कोई साथी होता ! मैं अपने सुख-दुःख का एक भाग उसे दे, उस
अनुभूति का भाग ग्रहण कर सकता। मैं अपने इस निस्सार यश को दूर पे
संसार का जीव बन जाता।"

कवि चुप हो गया। मिनट पर मिनट बीतने लगे। ठण्डी हवा से जब क
का बूढ़ा शरीर सिहरने लगा, दीर्घ नि श्वास ले उसने कहा—"अच्छा, चलें

द्रुत वेग से चली जाती जलराशि की ओर दृष्टि किये युवती कम्पि
स्वर में बोली—"मुझे अपना साथी बना लीजिये।"

मक्रील के गम्भीर गर्जन मे विडम्बना की हँसी का स्वर मिलाते
कवि बोला—"तुम्हें ?" और चुप रह गया।

शरीर काँप उठने के कारण पुल के रेलिंग का आश्रय ले युवती
लज्जा-विजड़ित स्वर में कहा—"मैं यद्यपि तुच्छ हूँ...."

"न-न-न यह बात नहीं"—कवि सहसा रुक कर बोला, 'उलटी बात.
हाँ, अब चलें।"

फुलवारी मे पहुँच कवि ने कहा, "कल " परन्तु बात पूरी कहे बि
ही वह चला गया।

अपने कमरे में पहुँच कर सामने आईने की ओर दृष्टि न करने का

जितना ही यत्न करने लगा, उतना ही स्पष्ट अपने मुख का प्रतिबिम्ब उसके सम्मुख आ उपस्थित होता। वही बेचैनी में कवि का दिन बीता। उसने सुबह ही एक तौलिया आईने पर डाल दिया और दिन भर कहीं बाहर न निकला।

दिन भर सोच और जाने क्या निश्चय कर सन्ध्या समय कवि पुनः तैयार हो फुलवारी में गया। सतरी रंग के कोट में संगमर्मर की वह सुघड़ मूर्ति सामने खड़ी थी। कवि के हृदय की तमाम उलझन क्षण भर में लोप हो गई। कवि ने हँसकर कहा "इस सर्दी में ..? देश-काल-पात्र देख कर ही वचन का भी पालन किया जाता है।" पूर्णिमा के प्रकाश में कवि ने देखा, उसकी बात के उत्तर में युवती के मुख पर सतोष और आत्मविश्वास की मुस्कराहट फिर गई। पुल पर पहुँच हँसते हुये कवि बोला, "तो साथ देने की बात सचमुच ठीक थी?"

युवती ने उत्तर दिया—"उसमें परिहास की तो कोई बात नहीं।"

कवि ने युवती की ओर देख साहस कर पूछा—"तो जरूर साथ दोगी?"

"हाँ।"—युवती ने हामी भरी, बिना सिर उठाये ही।

"सब अवस्था में, सदा?"

सिर झुकाकर युवती ने दृढ़ता से उत्तर दिया—"हाँ।"

कवि अविश्वास से हँस पड़ा—"तो आओ।" उसने कहा—"यहीं साथ दो मक़ील के गर्भ में।"

"हाँ, यहीं सही।" युवती ने निर्भीक भाव से नेत्र उठा कर कहा।

हँसी रोककर कवि ने कहा—"अच्छा, तो तैयार हो जाओ—एक, दो, तीन।" हँसकर कवि अपना हाथ युवती के कंधे पर रखना चाहता था। उसने देखा, पुल के रेलिंग के ऊपर से युवती का शरीर नीचे मक़ील के उद्दाम प्रवाह की ओर चला गया।

क्षण भर में उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। हाथ फैलाकर उसे

पकड़ने के विफल प्रयत्न में बड़ी कठिनता से वह अपने आप को सम्हाल सका।

मक़ील के घोर गर्जन में एकदफे सुनाई दिया—'छप और फिर केवल नदी का गम्भीर गर्जन।

कवि को ऐसा जान पड़ा—मानो मक़ील की लहरें निरन्तर उसे 'आओ!' 'आओ!' कहकर बुला रही हैं। वह अचेत ज्ञान-शून्य पुल का रेलिंग पकड़े खड़ा रहा। जब पीठ पीछे से चल कर चन्द्रमा का प्रकाश उसके मुँह पर पड़ने लगा, उन्मत्त की भाँति लड़खड़ाता वह अपने कमरे की ओर चला।

कितनी देर तक वह निश्चल आईने के सामने खड़ा रहा। फिर हाथ की लकड़ी को दोनों हाथों से थाम उसने पड़ापड़ आईने पर कितनी ही चोट लगाई और तब साँस चढ़ जाने के कारण वह हाँफता हुआ आईने के सामने की ही कुर्सी पर धम से गिर पड़ा।

०　　०　　०　　०

प्रातः हजामत के लिए गरम पानी लाने वाले नौकर ने जब देखा—कवि आईने के सामने कुर्सी पर निश्चल बैठा है, परन्तु आईना टुकड़े-टुकड़े हो गया और उसके बीच का भाग गायब है। चौखट में फँसे आईने के लम्बे-लम्बे भाले के से टुकड़े मानों दाँत निकाल कर कवि के निर्जीव शरीर को डरा रहे हैं।

कवि का मुख कागज की भाँति पीला और शरीर काठ की भाँति जड़ था। उसकी आँखें अब भी खुली थी, उनमें से जीवन नहीं, मृत्यु झाँक रही थी। बाद में मालूम हुआ, रात के पिछले पहर कवि के कमरे से अनेक बार—'आता हूँ, आता हूँ' की पुकार सुनाई दी थी।

कथा-वीथी

भगवती चरण वर्मा | मुगलों ने सल्त
बख्श दी

हीरोजी को आप नहीं जानते, और यह दुर्भाग्य की बात है।
यह अर्थ नहीं कि केवल आपका दुर्भाग्य है, दुर्भाग्य हीरोजी का भी
कारण, बड़ा सीधा-साधा है। यदि आपका हीरोजी से परिचय हो
तो आप निश्चय समझ लें कि आपका संसार के एक बहुत बड़े विद्वा
परिचय हो गया। हीरोजी को जानने वालों में अधिकांश का मत है
हीरोजी पहले जन्म में विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक अवश्य रहे होंगे
अपने किसी पाप के कारण उनको इस जन्म में हीरोजी की योनि प्राप्त हु
अगर हीरोजी का आपसे परिचय हो जाय तो आप यह समझ लीजिए
उन्हें एक मनुष्य अधिक मिल गया, जो उन्हें अपने शौक में प्रसन्नतापूर्वक
हिस्सा दे सके।

हीरोजी ने दुनिया देखी है। यहाँ यह जान लेना ठीक होगा कि ही
जी की दुनिया मौज और मस्ती की ही बनी है। शराबियों के साथ बैठ
उन्होंने शराब पीने की बाजी लगाई है और हरदम जीते हैं। अफीम के अ
नहीं हैं, पर अगर मिल जाय तो इतनी खा लेते हैं, जितने से एक खान
का खानदान स्वर्ग की या नरक की यात्रा कर सके। भंग पीते हैं तब त
जब तक उनका पेट न भर जाय। चरस और गाँजे के लोभ में तो स
बनते-बनते बच गए। एक बार एक आदमी ने उन्हें संखिया खिला दी
इस आशा से कि संसार एक पापी के भार से मुक्त हो जाय। पर दूसरे
दिन हीरोजी उसके यहाँ पहुँचे। हँसते हुए उन्होंने कहा—"यार कल

नशा नशा था । राम दुहाई, अगर आज भी वह नशा करवा देते तो तु
आशीर्वाद देता ।" लेकिन उस आदमी के पास सखिया मौजूद न थी ।

हीरोजी के दर्शन प्राय. चाय की दुकान पर हुआ करते हैं । जो पहुँच
है, वह हीरोजी को एक प्याला चाय अवश्य पिलाता है । उस दिन जब ह
लोग चाय पीने पहुँचे तो हीरोजी एक कोने मे आँखें बन्द किए हुए बैठे कु
सोच रहे थे । हम लोगों में बातें शुरू हो गईं और हरिजन आदोलन से घूम
फिरते बात आ पहुँची दानवराज बलि पर । पंडित गोवर्द्धन शास्त्री ने आ
लेट का टुकड़ा मुँह मे डालते हुए कहा—"भाई, यह तो कलियुग है ।
किसी में दीन है न ईमान । कौडी-कौड़ी पर लोग बेइमानी करने लग ग
हैं । अरे अब तो लिखकर भी लोग मुकर जाते हैं । एक युग था, जब दान
तक अपना वचन निभाते थे, सुरों और नरों की तो बात ही छोड दीजिए
दानवराज बलि ने वचनबद्ध होकर सारी पृथ्वी दान कर दी थी । पृथ्वी
काहे की, स्वयं अपने को भी दान कर दिया था ।"

हीरोजी चौंक उठे । खाँस कर उन्होंने कहा—"क्या बात है ! ज
फिर से तो कहना ?"

सब लोग हीरोजी की ओर घूम पड़े । कोई नई बात सुनने को मिले
इस आशा से मनोहर ने शास्त्री जी के शब्दों को दुहराने का कष्ट उठाया
"हीरोजी ! ये गोवर्द्धन शास्त्री जो हैं, सो कह रहे हैं कि कलियुग मे ध
कर्म सब लोप हो गया । त्रेता में तो दैत्यराज बलि तक ने अपना स
कुछ केवल वचनबद्ध होकर दान कर दिया था ।"

हीरोजी हँस पड़े—"हाँ, तो यह गोवर्द्धन शास्त्री कहनेवाले हुए औ
तुम लोग सुननेवाले, ठीक ही है । लेकिन हमसे सुनो, यह तो कह रहे हैं त्रे
की बात, अरे तब तो अकेले बलि ने ऐसा कर दिया था, लेकिन मैं कहता
कलियुग की बात । कलियुग मे तो एक आदमी की कही हुई बात को उस
सात-आठ पीढ़ी तक निभाती गई और यद्यपि वह पीढ़ी स्वयं नष्ट हो ग

कथा-श्री

लेकिन उसने अपना वचन नहीं तोड़ा।"

हम लोग आश्चर्य में आ गए। हीरोजी की बात समझ में नहीं आई, पूछना पड़ा—"हीरोजी, कलियुग में किसने इस प्रकार अपने वचनों का पालन किया ?"

"लौंडे हो न !" हीरोजी ने मुँह बनाते हुए कहा—"जानते हो मुगलों की सल्तनत कैसे गई ?"

"हाँ ! अँगरेजों ने उनसे छीन ली।"

"तभी तो कहता हूँ कि तुम सब लौंडे हो। स्कूली किताबों को रट-रट बन गये पढ़े-लिखे आदमी। अरे मुगलों ने अपनी सल्तनत अंगरेजों को बख्श दी।"

हीरोजी ने यह कौन-सा नया इतिहास बताया ? आँखें कुछ अधिक खुल गईं। कान खड़े हो गए। मैंने कहा—"सो कैसे ?"

"अच्छा, तो फिर सुनो !" हीरोजी ने आरम्भ किया—

"जानते हो, शाहंशाह शाहजहाँ की लड़की शाहजादी रोशनआरा एक दफे बीमार पड़ी थी, और उसे एक अंगरेज डाक्टर ने अच्छा किया था। उस डाक्टर को शाहंशाह शाहजहाँ ने हिन्दुस्तान में तिजारत करने के लिए कलकत्ते में कोठी बनाने की इजाजत दे दी थी।"

"हाँ, यह तो हम लोगों ने पढ़ा है।"

"लेकिन असल बात यह है कि शाहजादी रोशनआरा, वही शाहंशाह शाहजहाँ की लड़की—हाँ वही शाहजादी रोशनआरा एक दफे जल गई। अधिक नहीं जली थी। जरा हाथ में थोड़ा-सा जल गई थी, लेकिन जल तो गई थी और थी शाहजादी। बड़े-बड़े हकीम और वैद्य बुलाये गए। इलाज किया गया। लेकिन शाहजादी को कोई अच्छा न कर सका—न कर सका। और शाहजादी को भला अच्छा कौन कर सकता था ? वह शाहजादी थी न ! सब लोग लगाते थे लेप, और लेप लगाने से होती थी जलन, और तुरंत

शाहजादी ने घुलवा डाला उस लेप को । भला शाहजादी को रोकने वाल
कौन था ? अब शाहंशाह सलामत को फिक्र हुई । लेकिन शाहजादी अच्छ
हो तो कैसे ? वहाँ तो दवा असर करने ही न पाती थी ।

"उन्हीं दिनों एक अँगरेज घूमता-घामता दिल्ली आया । दुनिया दे
हुए, घाट-घाट का पानी पिए हुए, पूरा चालाक और मक्कार । उसको शा
जादी की बीमारी की खबर लग गई । नौकरों को घूस देकर उसने पूरा हा
दरियाफ्त किया । उसे मालूम हो गया कि शाहजादी जलन की वजह से दव
घुलवा डाला करती है । सीधे शाहंशाह सलामत के पास पहुँचा । कहा कि डाक
हूँ । शाहजादी का इलाज उसने अपने हाथ में ले लिया । उसने शाहजादी
हाथ में एक दवा लगाई । उस दवा से जलन होना तो दूर रहा, उलटे ज
हुए हाथ में ठंडक पहुँची । अब भला शाहजादी उस दवा को क्यों घुलवाती
हाथ अच्छा हो गया । जानते हो वह दवा क्या थी ?" हम लोगों की ओ
भेद-भरी दृष्टि डालते हुए हीरोजी ने पूछा ।

"भाई हम दवा क्या जाने ?"—कृष्णानन्द ने कहा ।

"तभी तो कहते हैं कि इतना पढ़-लिखकर भी तुम्हें तमीज नहीं आई
अरे वह दवा थी वेसलीन—वही वेसलीन, जिसका आज घर-घर में प्रचार है

"वेसलीन ! लेकिन वेसलीन तो दवा नहीं होती ।"—मनोहर ने कहा

"कौन कहता है कि वेसलीन दवा होती है । अरे उसने हाथ में ल
दी वेसलीन और घाव आप-ही-आप अच्छा हो गया । वह अँगरेज बन बै
डाक्टर—और उसका नाम हो गया । शाहंशाह शाहजहाँ बड़े प्रसन्न हुए
उन्होंने उस फिरंगी डाक्टर से कहा—'माँगो ।' उस फिरंगी ने कहा—'हुजू
मैं इस दवा का हिन्दुस्तान में प्रचार करना चाहता हूँ, इसलिए हुजूर मु
हिन्दुस्तान में तिजारत करने की इजाजत दे दें ।' बादशाह सलामत ने ज
यह सुना कि डाक्टर हिन्दुस्तान में इस दवा का प्रचार करना चाहता
तो बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा—'मंजूर ! और कुछ माँगो ।' तब उ

चालाक डाक्टर ने जानते हो क्या मांगा? उसने कहा—'हुजूर, मैं एक तम्बू तानना चाहता हूँ जिसके नीचे इस दवा के पीपे इकट्ठे किए जाएँगे। जहाँपनाह यह फरमा दें कि उस तम्बू के नीचे जितनी जमीन आएगी, वह जहाँपनाह ने फिरंगियों को बख्श दी।' शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, उन्होंने सोचा, तम्बू के नीचे भला कितनी जगह आएगी। उन्होंने कह दिया—"मंजूर।"

"हाँ, तो शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, छल-कपट उन्हें आता न था। और वह अंगरेज था दुनिया देखे हुए। सात समुद्र पार करके हिन्दुस्तान आया था। पहुँचा विलायत, वहाँ उसने बनवाया रबड़ का एक बहुत बड़ा तम्बू और जहाज पर तम्बू लदवाकर चल दिया हिन्दुस्तान। कलकत्ते में उसने वह तम्बू लगवा दिया। वह तम्बू कितना ऊँचा था, इसका अन्दाज आप नहीं लगा सकते। उस तम्बू का रंग नीला था। तो जनाब वह तम्बू लगा कलकत्ते में, और विलायत से पीपे पर पीपे लद-लदकर आने लगे। उन पीपों में वेसलीन की जगह भरा था एक-एक अंगरेज जवान, मय बन्दूक और तलवार के। सब पीपे तम्बू के नीचे रखवा दिए गए। जैसे-जैसे पीपे जमीन घेरने लगे वैसे-वैसे तम्बू को बढ़ा-बढ़ा कर जमीन घेर दी गई। तम्बू तो रबड़ का था न, जितना बढ़ाया, बढ़ गया अब जनाब तम्बू पहुँचा पलासी। तुम लोगों ने पढ़ा होगा कि पलासी का युद्ध हुआ था। अरे सब झूठ है! असल में तम्बू बढ़ते-बढ़ते पलासी पहुँचा था, और उस वक्त मुगल बादशाह का हरकारा दौड़ा था दिल्ली। बस यह कह दिया गया कि पलासी की लड़ाई हुई। जी हाँ, उस वक्त दिल्ली में शाहंशाह शाहजहाँ की तीसरी या चौथी पीढ़ी सल्तनत कर रही थी। हरकारा जब दिल्ली पहुँचा, उस वक्त बादशाह सलामत की सवारी निकल रही थी। हरकारा घबराया हुआ था। वह इन फिरंगियों की चालों से हैरान था। उसने मौका देखा न महल, वहीं सड़क पर खड़े होकर उसने चिल्लाकर कहा—'जहाँपनाह गजब हो गया। ये बदतमीज फिरंगी अपना तम्बू पलासी तक खींच लाए हैं, और चूँकि

कलकत्ते से पलासी तक की जमीन तम्बू के नीचे आ गई है, इसलिए इन फिरंगियों ने उस जमीन पर कब्जा कर लिया है। जो इनको मना किया तो इन बदतमीजों ने शाही फरमान दिखा दिया।' बादशाह सलामत की सवारी रुक गई थी। उन्हें बुरा लगा। उन्होंने हरकारे से कहा--'म्याँ हरकारे, मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक फिरंगियों का तम्बू घिर जाय वहाँ तक जगह उनकी हो गई, हमारे बुजुर्ग यह कह गए हैं।' बेचारा हरकारा अपना-सा मुँह लेकर वापस गया।

"हरकारा लौटा, और इन फिरंगियों का तम्बू बढा। अभी तक तो आते थे पीपों में आदमी, अब आने लगा तरह-तरह का सामान। हिन्दुस्तान का व्यापार फिरंगियों ने अपने हाथ में ले लिया। तम्बू बढता ही रहा और पहुँच गया बक्सर। इधर तम्बू बढा और उधर लोगों की घबराहट बढ़ी। यह जो किताबों में लिखा है कि बक्सर की लड़ाई हुई, यह गलत है। भाई, जब तम्बू बक्सर पहुँचा तो फिर हरकारा दौड़ा।

'अब जरा बादशाह सलामत की बात सुनिए। वह जनाब दीवान-खास में तशरीफ रख रहे थे। उनके सामने सैकड़ों, बल्कि हजारों मुसाहब बैठे थे। बादशाह सलामत हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे--सामने एक साहब जो शायद शायर थे, कुछ गा-गाकर पढ़ रहे थे और कुछ मुसाहब गला फाड़-फाड़कर 'वाह, वाह,' चिल्ला रहे थे। कुछ लोग तीतर और बटेर लड़ा रहे थे। हरकारा जो पहुँचा तो यह सब बन्द हो गया। बादशाह सलामत ने पूछा--'म्याँ हरकारे, क्या हुआ--इतने घबराए हुए क्यों हो?" हाँफते हुए हरकारे ने कहा--'जहाँपनाह, इन बदजात फिरंगियों ने अंधेर मचा रक्खा है। वह अपना तम्बू बक्सर खींच लाए।' बादशाह सलामत को बड़ा ताज्जुब हुआ। उन्होंने अपने मुसाहबों से पूछा--'मियाँ, यह हरकारा कहता है कि फिरंगी अपना तम्बू कलकत्ते से बक्सर तक खींच लाए। यह कैसे मुमकिन है?" इस पर एक मुसाहब ने कहा--'जहाँपनाह, ये फिरंगी जादू

ी वक्त बादशाह सलामत के पास हरकारा दौड़ाया । वह दीवान-खास में
ज़िर किया गया । हरकारे ने बादशाह सलामत से अर्ज की कि वह तम्बू
ारस पहुँच गया है और तेजी के साथ दिल्ली की तरफ आ रहा है ।
दशाह सलामत चौंक उठे । उन्होंने हरकारे से कहा—'तो क्यों हरकारे,
ही बतलाओ, क्या किया जाय ?' वहाँ बैठे हुए दो-एक उमराओं ने कहा—
हाँपनाह, एक बहुत बड़ी फौज भेजकर इन फिरंगियों का तम्बू छोटा
रवा दिया जाय और कलकत्ते भेज दिया जाय । हम लोग जाकर लड़ने को
ार हैं । जहाँपनाह का हुक्म भर हो जाय । इस तम्बू की क्या हकीकत है,
 मर्तबा आसमान को भी छोटा कर दें ।' बादशाह सलामत ने कुछ सोचा,
र उन्होंने कहा—'क्या बतलाऊँ, हमारे बुजुर्ग बादशाह शाहजहाँ इन फिरं-
यों को तम्बू के नीचे जितनी जगह आ जाय, वह बख्श गए हैं । बख्शीश-
ामा की रू से हम लोग कुछ नहीं कर सकते । आप जानते हैं, हम लोग
मीर तैमूर की औलाद हैं । एक दफा जो जबान दे दी, वह दे दी । तम्बू का
ोटा कराना तो गैरमुमकिन है । हाँ कोई ऐसी हिकमत निकाली जाय, जिससे
 फिरंगी अपना तम्बू आगे न बढ़ा सकें । इसके लिए दरबार-आम किया
ाय और यह मसला वहाँ पेश हो ।'

"इधर दिल्ली में तो यह बातचीत हो रही थी और उधर इन फिरंगियों
ा तम्बू इलाहाबाद, इटावा ढँकता हुआ आगरे पहुँचा । दूसरा हरकारा दौड़ा ।
सने कहा—'जहाँपनाह, वह तम्बू आगरे तक बढ़ आया है । अगर अब भी
छ नहीं किया जाता तो ये फिरंगी दिल्ली पर भी अपना तम्बू तान कर अपना
ब्जा कर लेंगे ।' बादशाह सलामत घबराए । दरबार-आम किया गया । सब
मीर-उमराव इकट्ठा हुए । जब सब लोग इकट्ठा हो गये तो बादशाह सलामत
 कहा—'आज हमारे सामने एक अहम मसला पेश है । आप लोग जानते
ैं कि हमारे बुजुर्ग शाहंशाह शाहजहाँ ने फिरंगियों को इतनी जमीन बख्श
ी थी, जितनी उनके तम्बू के नीचे आ सके । इन्होंने अपना तम्बू कलकत्ते

में लगाया था । लेकिन वह तम्बू है रबड़ का, और धीरे-धीरे ये लोग तम्बू आगरे तक खींच लाये । हमारे बुजुर्गों से यह कहा गया, तब उन्होंने कुछ करना मुनासिब न समझा; क्योंकि शाहंशाह शाहजहाँ अपना कौल हार चुके हैं । हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं और अपने कौल के पक्के हैं । अब आप लोग बतलाइए, क्या किया जाय ।' अमीरों और मंसबदारों ने कहा—'हमें इन फिरंगियों से लड़ना चाहिए और इनको सजा देनी चाहिए । इनका तम्बू छोटा करवाकर कलकत्ते भिजवा देना चाहिए ।' बादशाह सलामत ने कहा—'लेकिन हम अमीर तैमूर की औलाद हैं । हमारा कौल टूटता है ।' इसी समय तीसरा हरकारा हाँफता हुआ बिना इत्तला कराए हुए ही दरबार में घुस आया । उसने कहा—'जहाँपनाह, वह तम्बू दिल्ली पहुँच गया । वह देखिए किले तक आ पहुँचा ।' सब लोगों ने देखा । वास्तव में हजारों गोरे खाकी वर्दी पहने और हथियारों से लैस, बाजा बजाते हुये तम्बू को किले की तरफ खींचते हुए आ रहे थे । उस वक्त बादशाह सलामत उठ खड़े हुए । उन्होंने कहा—'हमने तै कर लिया । हम अमीर तैमूर की औलाद हैं । हमारे बुजुर्गों ने जो कुछ कह दिया, वही होगा । उन्होंने तम्बू के नीचे की जगह फिरंगियों को बख्श दी थी । अब अगर दिल्ली भी उस तम्बू के नीचे आ रही है तो आवे । मुगल-सल्तनत जाती है तो जाय, लेकिन दुनिया यह देख ले कि अमीर तैमूर की औलाद हमेशा अपने कौल की पक्की रही है ।' इतना कहकर बादशाह सलामत मय अपने अमीर-उमरावों के दिल्ली के बाहर हो गए और दिल्ली पर अँगरेजों का कब्जा हो गया । अब आप लोग देख सकते हैं, इस कलयुग में भी मुगलों ने अपनी सल्तनत बख्श दी ।"

हम सब लोग थोड़ी देर तक चुप रहे । इसके बाद मैंने कहा—"हीरोजी एक प्याला चाय और पियो ।"

हीरोजी बोल उठे—"इतनी अच्छी कहानी सुनने के बाद भी एक प्याला चाय ? अरे कहुवे ने

हवा-बीदी

उपेन्द्रनाथ अश्क | डाची

काट[1] 'पी सिकन्दर' के मुसलमान जाट बाकर को अपने माल की ओर
ालचभरी निगाहों से तकते देखकर चौधरी नन्दू वृक्ष की छाँह में बैठे-बैठे
ी ऊँची घरघराती आवाज में ललकार उठा, 'रे-रे अठे के करे है ?'"[2]
उसकी छः फुट लम्बी सुगठित देह, जो वृक्ष के तने के साथ आराम
रही थी, तन गयी और बटन टूटे होने के कारण, मोटी खादी के कुर्ते
सका विशाल वक्षस्थल और उसकी बलिष्ठ भुजाएँ दृष्टिगोचर हो उठीं।

बाकर तनिक समीप आ गया। गर्द से भरी हुई एक छोटी-नुकीली
ी और खिचड़ी मूँछों के ऊपर गढ़ों में धँसी हुई दो आँखों में निमिष मात्र
लिए चमक पैदा हुई और जरा मुस्कराकर उसने कहा, "डाची[3] देख रहा
ौधरी कैसी खूबसूरत और जवान है। देखकर आँखों की भूख मिटती है।"

अपने माल की प्रशंसा सुनकर चौधरी नन्दू का तनाव कुछ कम हुआ;
न होकर बोला, "किस साँड ?"[4]

"वह, परली तरफ से चौथी।" बाकर ने संकेत करते हुए कहा।

ओकाँह[5] के एक घने पेड़ की छाया में आठ-दस ऊँट बँधे थे, उन्हीं
ह जवान साँडनी अपनी लम्बी, सुन्दर और सुडौल गर्दन बढ़ाये घने पत्तों

---

१. काट=दस-बीस सिरकियों के खेमों का छोटा सा गाँव।

२. अरे तू यहाँ क्या कर रहा है ?

३. डाची=साँडनी।

४. कौन सी डाची ?

५. एक वृक्ष-विशेष।

से मुँह मार रही थी। माल-मंडी में, दूर जहाँ तक नजर जाती थी, बड़े-बड़े ऊँचे ऊँटों, सुन्दर सांड़नियों, काली-मोटी बेडौल भैंसों, सुन्दर नागौरी सींगों-वाले बैलों और गायों के सिवा कुछ दिखायी न देता था। गधे भी थे, पर, न होने के बराबर। अधिकांश तो ऊँट ही थे। बहावल नगर के मरुस्थल में होनेवाली माल-मंडी में उनका आधिक्य था भी स्वाभाविक। ऊँट रेगिस्तान का जानवर है। इस रेतीले इलाके में आमदरफ्त, खेती वाड़ी और बार-बरदारी का काम उसी से होता है। पुराने समय में जब गायें दस-दस और बैल पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में मिल जाते थे, तब भी अच्छा ऊँट पचास से कम में हाथ न आता था और अब भी जब इस इलाके में नहर आ गयी है, पानी की इतनी किल्लत नहीं रही, ऊँट का महत्व कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ा ही है। सवारी के ऊँट दो-दो सौ से तीन-तीन सौ तक पा जाते हैं और वाही तथा बारबरदारी के भी अस्सी-सौ से कम में हाथ नहीं आते।

तनिक और आगे बढ़कर बाकर ने कहा, "सच कहता हूँ चौधरी, इस जैसी सुन्दरी सांड़नी मुझे सारी मंडी में दिखायी नहीं दी।"

हर्ष से नन्दू का सीना दुगना हो गया, बोला, "आ एक ही के, इह तो सगली फूटरी हैं। मैं तो इन्हें चारा फलूँसी निरिया करूँ।"[1]

धीरे से बाकर ने पूछा, "बेचोगे इसे?"

नन्दू ने कहा, "इठई बेचने लई तो लाया हूँ।"

"तो फिर बताओ, कितने को दोगे?"

नन्दू ने नख से शिख तक बाकर पर एक दृष्टि डाली और हँसते हुए बोला, "तने चाही जै का तेरे धनी बेई मोल लेसी?"[2]

---

१. यह एक ही क्या, यह तो सब ही सुन्दर हैं, मैं इन्हें चारा और फलूँसी (जवारा और मोठ) देता हूँ।

२. तुझे चाहिए, या तू अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है?

"मुझे चाहिए ।" बाकर ने दृढ़ता से कहा ।
नन्दू ने उपेक्षा से सिर हिलाया । इस मजदूर की यह बिसात कि ऐसी साँड़नी मोल ले । बोला, "तू ँ की लेसी ?"
बाकर की जेब में पड़े डेढ़ सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने के लिये ी उठे । तनिक जोश के साथ उसने कहा, तुम्हें इससे क्या, कोई ले, ी अपनी कीमत से गरज है, तुम मोल बताओ ?"
नन्दू ने उसके जीर्ण-शीर्ण कपड़ों, घुटनों से उठे हुए तहमद और जैसे वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए टालने के विचार से कहा, "जा इसी-विसी ले आयी, इंगो मोल तो आठ बीसी मूँ घाट के नहीं ।"[1]
एक निमिष के लिए बाकर के थके हुए, व्यथित चेहरे पर आह्लाद ा झलक उठी । उसे डर था कि चौधरी कहीं ऐसा मोल न बता दे, की बिसात से ही बाहर हो; पर जब अपनी जबान से ही उसने जो बताये, तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा । १५०। तो उसके ही । यदि इतने पर भी चौधरी न माना, तो दस रुपये वह उधार ा । भाव-ताव तो उसे करना आता न था । झट से उसने डेढ़ सौ निकाले और नन्दू के आगे फेंक दिये । बोला—गिन लो, इनसे मेरे पास नहीं, अब आगे तुम्हारी मर्जी ।"
नन्दू ने अन्यमनस्कता से नोट गिनने आरम्भ कर दिये । पर गिनती रते ही उसकी आँखें चमक उठीं । उसने तो बाकर को टालने के ी मूल्य १६०) बता दिया था, नहीं मण्डी में अच्छी से अच्छी डाची ी में मिल जाती और इसके तो १४०) पाने की भी कल्पना उसने स्वप्न ी थी । पर शीघ्र ही मन के भावों को छिपाकर और जैसे बाकर पर न का बोझ लादते हुए नन्दू बोला, "साँड तो मेरी दो सौ की है, पण्ज

१. जा, जा, तू कोई ऐसी-वैसी साँड़ खरीद ले, इसका मूल्य तो १६०) से कम नहीं ।

सग्गी मोल मियां तन्नै दस छोड़ियां।"[1] और यह कहते-कहते उठ कर उसने साड़नी की रस्सी बाकर के हाथ में दे दी।

क्षण भर के लिए उस कठोर व्यक्ति का जी भर आया। यह सांड़नी उसके यहां ही पैदा हुई और पली थी। आज पाल-पोसकर उसे दूसरे के हाथ में सौंपते हुये उसके मन की कुछ ऐसी दशा हुई, जो लड़की को ससुराल भेजते समय पिता की होती है। जरा कांपती आवाज में, स्वर को तनिक नर्म करते हुये, उसने कहा, "आ सांड़ सोरी रहेड़ी है, तू इन्हें रेहड़ में न गेर दई।'[2] ऐसे ही, जैसे ससुर दामाद से कह रहा हो— मेरी लड़की लाडों पली है, देखना इसे कष्ट न होने देना।"

आल्हाद के पंख पर उड़ते हुए बाकर ने कहा, "तुम जरा भी चिंता न करो, जान देकर पालूंगा।"

नन्दू ने नोट अन्टी में सँभालते हुए, जैसे सूखे हुए गले को जरा तर करने के लिए, घड़े में से मिट्टी का प्याला भरा। मंडी में चारों ओर धूल उड़ रही थी। शहरों की माल-मण्डियों में भी—जहां बीसियों अस्थाई नल लग जाते हैं और सारा-सारा दिन छिड़काव होता रहता है–धूल की कमी नहीं होती, फिर रेगिस्तान की मंडी पर तो धूल ही का साम्राज्य था। गन्ने वाले की गंडेरियों पर, हलवाई के हलवे और जलेबियों पर और खोंचेवाले के दही बड़े पर, सब जगह धूल का पूर्णाधिकार था। घड़े का पानी टांचियों द्वारा नहर से लाया गया था, पर यहां आते-आते वह कीचड़ जैसा गँदला हो गया था। नन्दू का ख्याल था कि निथरने पर पियेगा, पर गला कुछ सूख रहा था। एक ही घूंट में प्याले को खतम करके नन्दू ने बाकर से भी

---

१ सांडनी तो मेरी २००) की है, पर जा, सारी कीमत में से तुम्हें दस रुपये छोड़ दिये।

२. यह सांडनी अच्छी तरह रखी गई है, तू इसे यों ही मिट्टी में न रोल लेना।

पीने के लिए कहा। बाकर आया था, तो उसे गजब की प्यास लगी
थी, पर अब उसे पानी की फुर्सत कहाँ ? वह रात होने से पहले-पहले
पहुँचना चाहता था। हाथी की रस्सी पकड़े हुये वह धूल को चीरता
सा चल पड़ा।

बाकर के दिल में बड़ी देर से एक सुन्दर और युवा हाथी खरीदने
लालसा थी। जाति से वह कमीन था। उसके पूर्वज कुम्हारों का काम
थे, किन्तु उसके पिता ने अपना पैत्रिक काम छोड़कर मज़दूरी करना ही
कर दिया था। उसके बाद बाकर भी इसी से अपना और अपने छोटे
टुम्ब का पेट पालता आ रहा था। वह काम अधिक करता हो, यह
न थी। काम से उसने सदैव जी चुराया था। चुराता भी क्यों न, जब
पत्नी उससे दुगुना काम करके उसके भार को बँटाने और उसे आराम
ने के लिये मौजूद थी। कुटुम्ब बड़ा न था—एक वह, एक उसकी
और एक उसकी नन्ही सी बच्ची। फिर किस लिए वह जी हलका न
! पर क्रूर और 'बेपीर' विधाता—उसने उसे उस विस्मृति से, सुख
स नींद से जगाकर अपना उत्तरदायित्व समझने पर बाधक कर दिया।
ता दिया कि जीवन में सुख ही नहीं, आराम ही नहीं, दुःख भी है, परिश्रम
।

पाँच वर्ष हुए उसकी बड़ी आराम देनेवाली प्यारी पत्नी सुन्दर गुड़िया-
ड़की को छोड़कर परलोक सिधार गई थी। मरते समय, अपनी सारी
को अपनी फीकी और श्रीहीन आँखों में बटोरकर उसने बाकर से
ा, "मेरी रजिया अब तुम्हारे हवाले है, इसे कष्ट न होने देना।" इसी
ाक्य ने बाकर के समस्त जीवन के रुख को पलट दिया था। उसकी
के बाद ही वह अपनी विधवा बहन को उसके गाँव से ले आया था
अपने आलस्य तथा प्रमाद को छोड़कर अपनी मृत पत्नी की अन्तिम
ाषा को पूरा करने में संलग्न हो गया था।

कथा-वीथी

वह दिन-रात काम करता था ताकि अपनी मृत पत्नी की उस धरोहर को, अपनी उस नन्हीं सी गुड़िया को, भाँति-भाँति की चीजें लाकर प्रसन्न रख सके। जब भी कभी वह मन्डी को जाता, तो नन्हीं सी रजिया उसकी टाँगों से लिपट जाती और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसके गर्द से अटे हुए चेहरे पर जमाकर पूछती, "अब्बा, मेरे लिये क्या लाये हो ?" तो वह उसे अपनी गोद में ले लेता और कभी मिठाई और कभी खिलौनों से उसकी झोली भर देता। तब रजिया उसकी गोद से उतर जाती और अपनी सहेलियों को अपने खिलौने या मिठाई दिखाने के लिए भाग जाती। यही गुड़िया जब आठ वर्ष की हुई, तो एक दिन मचलकर अपने अब्बा से कहने लगी, "अब्बा, हम तो हाथी लेंगे ; अब्बा, हमें हाथी ले दो।" भोली-भाली निरीह बालिका ! उसे क्या मालूम कि वह एक विपन्न साधनहीन मजदूर की बेटी है, जिसके लिए हाथी खरीदना तो दूर रहा, हाथी की कल्पना करना भी पाप है। रूखी हँसी हँसकर बाकर ने उसे अपनी गोद में ले लिया और बोला, "रज्जो, तू तो खुद हाथी है।" पर रजिया न मानी। उस दिन मशीर-माल अपनी साँडिनी पर चढ़कर अपनी छोटी लड़की को अपने आगे बैठाये दो-चार मजदूर लेने के लिये अपनी इसी काट में आये थे। तभी रजिया, के नन्हें से मन में हाथी पर सवार होने की प्रबल आकांक्षा पैदा हो उठी थी, और उसी दिन से बाकर की रही-सही अकर्मण्यता भी दूर हो गई थी।

उसने रजिया को टाल तो दिया था, पर मन ही मन उसने प्रतिज्ञा कर ली थी कि वह अवश्य रजिया के लिये एक सुन्दर सी हाथी मोल लेगा। उसी इलाके में जहाँ उसकी आय की औसत साल भर में तीन आने रोजाना भी न होती थी, अब आठ-दस आने हो गयी। दूर-दूर के गाँवों में अब वह मजदूरी करता। कटाई के दिनों में वह दिन-रात काम करता—फसल काटता ; दाने निकालता ; खलिहानों में अनाज भरता ; नीरा डालकर भूसे के कूप बनाता। बिजाई के दिनों में हल चलाता ; क्यारियाँ बनाता ;

करना । उन दिनों उसे पाँच आने से लेकर आठ आने रोजाना तक
ी मिल जाती । जब कोई काम न होता तो प्रात उठकर, आठ कोस
जिल मारकर मण्डी जा पहुँचता और आठ-दस आने की मजदूरी
ही घर लौटता । उन दिनों मे वह रोज छः आने बचाता आ रहा था ।
यम में उसने किसी तरह की ढील न होने दी थी । उसे जैसे उन्माद
गया था । बहन कहती—"बाकर, अब तो तुम बिल्कुल ही बदल गये
हले तो तुमने कभी ऐसी जी तोड़कर मेहनत न की थी ।"
ाकर हँसता और कहता—"तुम चाहती हो, मैं आयु भर निठल्ला रहूँ ?"
बहन कहती—"निकम्मा बैठने को तो मैं नहीं कहती, पर सेहत गँवा
या जमा करने की सलाह भी मैं नहीं दे सकती ।"
ऐसे अवसर पर सदैव बाकर के सामने उसकी मृत पत्नी का चित्र
ाता, उसकी अन्तिम अभिलाषा उसके कानों मे गूँज जाती । वह
मे मेलती हुई रजिया पर एक स्नेहभरी दृष्टि डालता और विषाद
रा कर फिर अपने काम में लग जाता था । और आज—डेढ़ वर्ष
परिश्रम बाद वह अपनी चिर-संचित अभिलाषा पूरी कर सका था ।
क हाथ में साँड़नी की रस्सी थी और नहर के किनारे-किनारे वह
ा रहा था ।

ाँझ की बेला थी । पश्चिम की ओर डूबते सूरज की किरणें धरती को
ा अन्तिम दान कर रही थीं । वायु मे ठंडक आ गई थी, और कहीं
ों मे टटिहरी टीहूँ-टीहूँ करती उड़ रही थी । बाकर के मन मे
की सब बातें एक-एक करके आ रही । इधर-उधर कभी-कभी
मान अपने ऊँट पर सवार जैसे फुदकता हुआ निकल जाता था
भी-कभी खेतों से वापस आने वाले किसानों के लड़के बैलगाड़ी मे
घास पट्ठे के गट्ठों पर बैठे, बैलों को पुचकारते, किसी गीत का
क बन्द गाते या बैलगाड़ी के पीछे बँधे हुए चुपचाप चले आनेवाले

ऊँटों की थूथनियों से मेलते चले जाते थे।

बाकर ने, जैसे स्वप्न से जागते हुए, पश्चिम की ओर अस्त होते हुए अंशुमाली की ओर देखा, फिर सामने की ओर शून्य में नजर दौड़ायी। उसका गाँव अभी बड़ी दूर था। पीछे की ओर हर्ष से देखकर और मौन रूप से चली आने वाली साँडनी को प्यार से पुचकारकर वह और भी तेजी से चलने लगा—कहीं उसके पहुँचने से पहले रजिया सो न जाय, इसी विचार से।

मशीर-माल की काट नजर आने लगी। यहीं से उसका गाँव समीप ही था। यही कोई दस कोस। बाकर की चाल धीमी हो गयी और इसके साथ ही कल्पना की देवी अपनी रंग-बिरंगी तूलिका से उसके मस्तिष्क के चित्रपट पर तरह-तरह की तस्वीरें बनाने लगी। —बाकर ने देखा, उसके घर पहुँचते ही नन्ही रजिया आह्लाद से नाचकर उसकी टाँगों से लिपट गई है और फिर डाची को देखकर उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य और उल्लास से भर गयी हैं। फिर उसने देखा, वह रजिया को आगे बैठाये सरकारी नाले (नहर) के किनारे-किनारे डाची पर भागा जा रहा है। शाम का वक्त है, ठण्डी ठण्डी हवा चल रही है और कभी-कभी कोई पहाड़ी कौवा अपने बड़े-बड़े पंख फैलाये और अपनी मोटी आवाज से दो-एक बार काँव-काँव करते ऊपर से उड़ता चला जाता है। रजिया की खुशी का पारावार नहीं। वह जैसे हवाई-जहाज में उड़ी जा रही है फिर उसके सामने आया कि वह रजिया को लिये महालक्ष्मीनगर की मंडी में खड़ा है। नन्हीं रजिया मानो भौचक्की सी है। हैरान और आश्चर्यान्वित सी चारों ओर अनाज के इन बड़े-बड़े ढेरों, अगिनत छकड़ों और हैरान कर देनेवाली चीजों को देख रही है। बाकर आह्लाद उसे सबकी कैफियत दे रहा है। एक दुकान पर ग्रामोफोन बजने लगता है। बाकर रजिया को वहाँ ले जाता है। लकड़ी के इस डिब्बे में किस तरह गाना निकल रहा है, कौन इसमें छिपा गा रहा है—यह सब बातें रजिया की समझ में नहीं आतीं, और यह सब जानने के लिए

उसके मनमें जो कुतूहल और जिज्ञासा है, वह उसकी आंखों से टपकी पडती है ।

वह अपनी कल्पना मे मस्त काट के पास से गुजरा जा रहा था कि सहसा कुछ विचार आ जाने से रुका और काट मे दाखिल हुआ।

मशीर-माल की काट भी कोई बडा गाँव न था । इधर के सब गांव एसे ही हैं । ज्यादा हुए तो ती स छप्पर हो गये । कडियो की छत का या पक्की ईंटों का मकान इस इलाके में अभी नही । खुद बाकर की काट मे पन्द्रह घर थे, घर क्या झुंगियाँ थीं । सिरकियो के खेमे–जिन्हें झोपड़ियों का नाम भी न दिया जा सकता था । मशीर-माल की काट भी ऐसी ही बीस-पच्चीस झुंगियो की बस्ती थी, केवल मशीर-माल का निवास-स्थान कच्ची ईंटों से बना था, पर छत उस पर भी छप्पर की ही थी । बाकर नानक बढ़ई की झुंगी के सामने रुका । मडी जाने से पहले वह यहाँ डाची का गदरा[1] (पलान) बनाने के लिए दे गया था । उसे ख्याल आया कि यदि रजिया ने साँड़िनी पर चढ़ने की जिद की, तो वह उसे कैसे टाल सकेगा, इसी विचार से वह पीछे मुड आया था । उसने नानक को दो-एक आवाजें दीं । अन्दर से शायद उसकी पत्नी ने उत्तर दिया-"घर मे नहीं हैं, मंडी गये हैं।"

बाकर का दिल बैठ गया । वह क्या करे, यह न सोच सका । नानक यदि मंडी गया है, तो गदरा क्या खाक बनाकर गया होगा ! फिर उसने सोचा, शायद बनाकर रख गया हो । इससे उसे कुछ सान्त्वना मिली । उसने फिर पूछा—"मैं साँडनी का पलान बनाने के लिए दे गया था, वह बना या नही ?"

जवाब मिला —"हमे मालूम नहीं ।"

बाकर का आधा उल्लास जाता रहा । बिना गदरे के वह डाची को क्या लेकर जाय । नानक होता तो उसका गदरा चाहे न बना सकता, कोई

---

१. गदरा-ऊँट पर बैठने की गद्दी ।

दूसरा ही उसमे माँगकर ले जाता। यह विचार आते ही उसने सोचा—'चलो मशीर-माल से माँग लें। उनके तो इतने ऊँट रहते हैं, कोई न कोई पुराना पलान होगा ही। अभी उसी से काम चला लेंगे। तब तक नानक *नया गदरा तैयार कर देगा।' यह सोचकर वह मशीर-माल के घर की ओर* चला पड़ा।

अपनी मुलाजमत के दिनों में मशीर-माल साहब ने पर्याप्त धनोपार्जन किया था। जब इधर नहर निकली, तो उन्होंने अपने पद और प्रभाव के बल पर रियासत में कौड़ियों के मोल कई मुरब्बे[1] जमीन ले ली थी। अब नौकरी से *अवकाश ग्रहण कर यहीं आ रहे थे।* राहक[2] रखे हुए थे, आय खूब थी और मजे से जीवन व्यतीत हो रहा था। अपनी चौपाल में एक तख्त-पोश पर बैठे वे हुक्का पी रहे थे—सिर पर श्वेत साफा, गले में श्वेत कमीज, उस पर श्वेत जाकेट और कमर में दूध जैसे रंग का तहमद। गर्द से अटे हुए बाकर को साँड़नी की रस्सी पकड़े आते देखकर उन्होंने पूछा—"कहो बाकर, *किधर से आ रहे हो ?"*

बाकर ने झुककर सलाम करते हुए कहा—"मंडी से आ रहा हूँ, मालिक ?"

"यह हाची किसकी है ?'

"मेरी ही है मालिक, अभी मंडी से ला रहा हूँ।"

"कितने को लाये हो ?"

बाकर ने चाहा, कह दे आठ-बीसी को लाया हूँ। उसके ख्याल में ऐसी सुन्दर हाची २००, में भी सस्ती थी, पर मन न माना, बोला—"हजूर, माँगता तो १६०) था, पर सात बीसी ही में ले आया हूँ।'

मशीर-माल ने एक नजर हाची पर डाली। वे स्वयं अर्से से एक सुन्दर हाची अपनी सवारी के लिये लेना चाहते थे। उनके हाची तो थी, पर

---

१. मुरब्बा

था-बीसी

पिछले वर्ष उसे सीमक[1] हो गया था और यद्यपि नील इत्यादि देने से उसका रोग तो दूर हो गया था, पर उसकी चाल में वह मस्ती, वह लचक न रही थी। यह डाची उनकी नज़रों में जँच गयी।—क्या सुन्दर और सुडौल अंग हैं, क्या सफ़ेदी मायल भूरा-भूरा रंग है; क्या लचलचाती लम्बी गर्दन है! बोले—"चलो, हमसे आठ-बीसी ले लो, हमें एक डाची की जरूरत है, दस तुम्हारी मेहनत के रहे।"

बाकर ने फीकी हँसी के साथ कहा—"हुजूर, अभी तो मेरा चाव भी पूरा नहीं हुआ!"

मशीर-माल उठकर डाची की गर्दन पर हाथ फेरने लगे थे—वाह! क्या असील जानवर है। प्रकट बोले—"चलो पाँच और ले लेना।"

और उन्होंने आवाज़ दी—"नूरे, अरे ओ नूरे!"

नौकर भैंसों के लिए पट्ठे कतर रहा था, गंडासा हाथ ही में लिये भाग आया। मशीर-माल ने कहा, "यह डाची ले जाकर बाँध दो! १६५ में, कहो कैसी है?"

नूरे ने हतबुद्धि से खड़े बाकर के हाथ से रस्सी ले ली और नख से शिख तक एक नजर डाची पर डालकर बोला, "खूब जानवर है", और यह कहकर नौहरे[2] की ओर चल पड़ा।

तब मशीर-माल ने अंटी से ६० रुपये के नोट निकाल कर बाकर के हाथ में देते हुए मुस्कराकर कहा, "अभी एक गाहक देकर गया है, शायद तुम्हारी ही किस्मत के थे। अभी यह रखो, बाकी भी एक-दो महीने तक पहुँचा दूँगा। हो सकता है, तुम्हारी किस्मत से पहले ही आ जायें।" और बिना कोई जवाब सुने वे नौहरे की ओर चल पड़े। नूरा फिर चारा कतरने लगा था। दूर ही से आवाज़ देकर उन्होंने कहा, "भैंस का चारा रहने दे,

---

१. ऊँटों की एक बीमारी।

२. भूसा आदि रखने का स्थान।

पहले हाथी के लिए गवारे का नीरा कर डाल, भूखी मालूम होती है।'
और पास आकर सांड़नी की गर्दन सहलाने लगे।

कृष्णपक्ष का चाँद अभी उदय नहीं हुआ था। विजन में चारों
कुहासा-सा रहा था। सिर पर दो-एक तारे निकल आये थे और दूर
और ओकाह के वृक्ष बड़े-बड़े काले-सियाह धब्बे बन रहे थे। फोग की
झाड़ी की ओट में अपनी खाट के बाहर आकर बैठा उस क्षीण प्रकाश को
रहा था, जो सरकंडों से छिन-छिनकर उसके आँगन से आ रहा था। जा
या रजिया जागती होगी उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी। वह इस इन्त
में था कि दिया बुझ जाय, रजिया सो जाय, तो वह चुपचाप अपने घर
दाखिल हो।

कमलाकान्त वर्मा | पगडण्डी

तब मैं ऐसी नहीं थी। लोग समझते हैं, मैं सदा की ऐसी ही हूँ— मोटी, चौड़ी, भारी-भरकम, क्षितिज की परिधि को चीर कर, अनंत को शांत बनाती, संसार के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक लेटी हुई। वह पुराना इतिहास है। कोई क्या जाने !

तब मैं न तो इतनी लम्बी थी, न इतनी चौड़ी। न चेहरे पर ईंटों की सुर्खी की ललाई थी, न शरीर पर कंकड़ों के गहने। मेरे दाएँ-बाएँ वृक्षों की जो ये कतारें देख रहे हो, वे भी नहीं थीं, न फुट-पाथ था, न बिजली के खम्भे, अप्सराओं की-सी सजी न ये दुकानें थीं, न अंगूठी के नगीने की तरह ये पार्क। तब मैं एक छोटी-सी पगडंडी थी—दुबली, पतली, सुकुमार नटखट!

कब से मैं हूँ, इसकी तो याद नहीं आती, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि अमराई के इस पार की कोई तरुणी, नदी से जल लाने के लिये उस पार गई होगी; जैसे किसी छोटी-सी नगण्य घटना के बाद किसी प्रथा का जन्म हो जाता है, और उसके बाद एक धर्म भी निकल पड़ता है, उसी तरह एक तरुणी के जल भर लाने के बाद गाँव की सारी तरुणियाँ घड़े में जल लेकर मटकती, इठलाती एक ही पथ से आती रही होंगी और फिर वहीं से मेरे जीवन की कहानी बह निकली।

मेरे अतीत के आकाश में दो तारे अब भी मेरे जीवन के सूनेपन की अँधियारी में झलमला रहे हैं। यों तो सारी अमराई सारा गाँव मेरे परिचितों से भरा था, किन्तु मेरी घनिष्टता थी केवल दो जनों से, एक थे बट दादा और दूसरा था रामी का कुँआ।

कथा-वीथी

बट दादा अमराई के सभी वृक्षों में बूढ़े थे और सभी उन्हें श्रद्धा और आदर से बट दादा कहा करते थे। थे तो वे वृद्ध, किन्तु उनका हृदय बालकों से भी सरल और युवकों से भी सरस था। अमराई के कुलपति थे। उनमें तपस्वियों का तेज भी था और गृहस्थों की कोमलता भी। उनकी सघन छाया के नीचे लेटकर बीते हुये युगों की वेदना और आह्लाद से भरी कहानियाँ सुनना, रिमझिम-रिमझिम वर्षा में उनकी टहनियों में लुककर बैठे हुए पक्षियों की सरस बरसाती का मजा लूटना, आज भी याद करके मैं विह्वल हो उठती हूँ।

ठीक उन्हीं से सटा हुआ रामी का कुँआ था—पक्का, ठोस, सजल, स्वच्छ गंभीर, उदार। साँझ-सबेरे गाँव की स्त्रियाँ झन्-झन् करती आतीं और अमराई को अपने कल-कंठ से मुखरित करके कुँऐं से पानी भरकर मुझे भिगोती हुई, रौंदती हुई, चली जातीं।

मेरी चढती हुई जवानी का आदि भी इन्हीं से होता है, मध्य भी इन्हीं से और अन्त भी इन्हीं से। भूलने की चेष्टा करने पर भी क्या कभी मैं इन्हें भूल सकता हूँ ?

मनुष्य के जीवन का इतिहास प्रायः अपने सगों से नहीं, परायों से बनता है। ऐसा क्यों होता है, समझ में नहीं आता; किन्तु देखा जाता है कि अकस्मात् कभी की सुनी हुई बोली, किंचित् मात्र देखा हुआ स्वरूप, घड़ी-दो-घड़ी का परिचय, जीवन के इतिहास की अमर घटना, स्मृति की अमूल्य निधि बनकर रह जाते है और अपने सगों का समस्त समाज, अपने जीवन का सारा वातावरण कमल के पत्ते के चारों ओर के पानी की तरह छल्-छल् करते रह जाते हैं; उछल-उछल कर आते हैं, बह जाते हैं, टिक नहीं पाते। मैं सोचती हूँ, ऐसा क्यों होता है, पर समझ नहीं पाती।

जेठ के दिन थे। अलस दुपहरी। गरम हवा अमराई के वृक्षों में लुढ़कती फिरती थी। बट दादा ऊँघ रहे थे। एक वृक्ष में लिपटी हुई दो लताओं में

झगड़ा हो रहा था। मैं तन्मय हो उनका झगड़ा सुन रही थी, इतने मे ही कुँएँ ने पूछा—'पगडंडी, सो गई क्या ?"

"नहीं तो,—मैंने कहा—'इन लताओं का झगडा सुन रही हूँ।'

कुँएँ ने हँसकर पूछा—'क्या बात है ?'

मैंने कहा–'कुछ नहीं, नाहक का झगडा है, दोनो मूर्ख हैं।'

कुँएँ ने हँसकर कहा—'ससार मे मूर्ख कोई नही होता। परिस्थिति सबको मूर्ख बनाती है। इस अमराई मे तुम अकेली हो, कल एक और पगडडी बन जाय तो क्या यह सम्भव नहीं कि फिर तुम दोनो झगडने लग जाओ ?'

मैं तुनक गई। बोली—'साधारण बात मे भी मेरा जिक्र खीच लाने का तुम्हे क्या अधिकार है ?'

कुँएँ ने पूछा–'उन्हें मूर्ख कहने का तुम्हें क्या अधिकार है ?'

मैंने कहा–'मैं सौ बार कहूँगी, वे दोनो मूर्ख हैं, तुम भी मूर्ख हो, सब मूर्ख हैं!'

इतने में ही बट दादा भी जग पडे, बोले–'किसको मूर्ख बना रही है ?'

बात रुक गई, कुँआँ चुप हो गया। दो दिन तक बोल-चाल बंद रही।

मैंने जान-बूझकर उससे झगडा क्यो किया, इसे मह समझ नही पाया, इसलिये मुझे सताप भी हुआ और ग्लानि भी। स्त्री प्रेम से विह्वल हो जाती है और अपने उच्छ्वसित हृदय के उद्गारों को जब निरुद्ध नही कर पाती तब वह झगडा करती है। स्त्री का सबसे बडा बल है रोना: उसकी सबसे बड़ी कला है झगड़ा करना। झगड़ा करके तिनकना, रूठकर रोना, फिर दूसरे को रुला कर मान जाना, नारी-हृदय का प्रियतम विषय है। पुरुष, चाहे कितना भी पढा-लिखा हो, साहित्यिक हो, दार्शनिक हो, तत्वज्ञानी हो, यदि वह इतनी सीधी-सी बात नही समझ पाता तो सचमुच मूर्ख है।

यह घटना कुछ नई नही थी, नित्य की थी। कोई छोटी-सी बात लेकर हम झगड़ पडते, आपस मे कुछ कह-सुन लेते, फिर हफ्तो एक दूसरे से नहीं

बोलते। किन्तु वह बात, जिसके लिए मैं सब कुछ करती, सारा झगड़ा करती, कभी नहीं होती। कुंआँ मुझे कभी नहीं मानता था। अंत में हार कर मुझे ही बोलना पड़ता, तब वह बोलने लगता, मानों कुछ हुआ ही नहीं। मैं मन-ही-मन सोचती, यह कैसा विचित्र जीव है कि न तो इसे रूठने से कोई वेदना होती है, और न मानने से कोई आह्लाद। स्वयं भी नहीं रूठता, केवल चुप हो रहता है; बोलती हूँ तो फिर बोलने लगता है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। हे ईश्वर! अपनी रचना की हृदयहीनता की सारी थैली क्या मेरे ही लिए खोल रखी है?

इस घटना पर मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया, किन्तु वह बात रह-रह-कर मेरे कानों में गूँज उठती–'इस अमराई में तुम अकेली हो, कल एक और पगडंडा बन जाय तो क्या यह संभव नहीं कि फिर तुम दोनों भी झगड़ने लग जाओ?' इसका प्रतिवाद मैंने कसे किया? उससे झगड़ा किया, उसे मूर्ख बनाया। कुंआँ समझता है कि मैं स्त्री हूँ और स्त्री-जाति की कमजोरी मेरी भी कमजोरी है। और इसका प्रतिवाद करने के बदले मैं स्वयं उसके तर्क का प्रतिपादन कर देती हूँ, फिर मूर्ख मैं हुई या वह?

मुझे रह-रहकर अपनी निर्बलता पर क्रोध आ जाता। यदि उसे मेरे लिए सहानुभूति नहीं, मेरे रूठने की कोई चिन्ता नहीं, मुझे मनाने का आग्रह नहीं तो फिर मैं क्यों उसके लिए मरने लगी। यदि वह हृदयहीन है, तो मैं भी हृदयहीन बन सकती हूँ। यदि वह आत्म-निग्रह कर सकता है, तो मैं भी अपने आप पर संयम रखना सीख सकती हूँ। मैंने कसम खाई कि फिर उससे रूठूँगी ही नहीं, और यदि रूठूँगी तो फिर बोलूँगी नहीं, चाहे जो भी हो, प्रेम के लिए स्त्रीत्व को कलंकित नहीं करूँगी।

एक दिन की बात है। आश्विन का महीना था। बरसात अभी-अभी बीती थी। न कीचड़ थी, न धूल। छोटी हरी घासों और जंगली फूलों के बीच से होकर मैं अमराई के इस पार से उस पार तक लेटी थी। इस

सघन हरियाली' के बीच में मुझे देखकर जान पड़ता मानो किसी कुमारी कन्या की सीमंत हो। शरद मेरे अंग-अंग में प्रतिबिम्बित हो रहा था। मैं कुछ सोच रही थी, सहसा कुएँ ने कहा—'पगडंडी, सुनती हो?'

मैंने अन्यमनस्क होकर कहा–'कहो।'

उसने कहा–'तुम दिनोंदिन मोटी होती जा रही हो।'

मैं कुछ नहीं बोली।

कुछ ठहर कर वह फिर बोला–'तुम पहले जब दुबली थी, अच्छी लगती थीं।'

मैंने कहा—'अगर मैं मोटी हो गई हूँ, तो केवल तुम्हें अच्छी लगने के लिए तो मैं दुबली होने की नहीं!

कुएँ ने कहा—'यह तो मैंने कहा नहीं कि दुबली होकर तुम मुझे अच्छी लगोगी।'

मैंने पूछा—'तब तुमने कहा क्या ?'

उसने कहा—'कवियों का कहना है कि दुबलापन स्त्रियों के सौन्दर्य को बढ़ा देता है। मोटी होने से तुम कवियों की सौन्दर्य की परिभाषा से दूर हट जाओगी।'

मैंने खीझकर पूछा–'तुम तो अपने को कवि नहीं समझते न ?'

उसने कहा–'बिलकुल नहीं।'

मैंने कहा–'फिर मोटी हो जाने पर मैं कवियों को अच्छी लगूँगी या बुरी इससे तुम्हें मतलब ?'

उसने शांत भाव से कहा–'कुछ भी नहीं, केवल यही कि मैं उस परिभाषा को जानता हूँ और उसे तुम्हें भी बतला देना अपना कर्तव्य समझता हूँ।'

मैंने गंभीर होकर कहा–'धन्यवाद!'

स्त्री, यदि वह सचमुच स्त्री है, तो सब कुछ सह सकती है, पर अपने रूप का तिरस्कार नहीं सह सकती। स्त्री चाहे घोर कुरूपा हो, फिर भी

कथा-वीथी

पुरुष को उसे कुरूपा कहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं । स्त्री का स्त्रीत्व ही संसार का सबसे महान् सौन्दर्य है और उसके प्रति असुन्दरता का संकेत करना भी उसके स्त्रीत्व को अपमानित करना है । स्त्री के स्वरूप का उपहास करना वैसा ही है जैसा पुरुष को कायर कहना । मैं समझ गई कि कुँआँ मुझ पर मार्मिक आघात कर रहा है, परिहास नहीं, उपहास करना चाहता है । मैंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि चाहे अंत जो भी हो, मैं आज से युद्ध प्रारंभ करूँगी ।

उसी दिन रात को चाँदनी खिली थी । रजनीगंधा के सौरभ से अमराई मस्त होकर झूम रही थी । बट दादा पक्षियों को सुलाकर अपने भी सोने का उपक्रम कर रहे थे । बोले–'सो गई बेटी ?'

मैंने कहा–'नहीं दादा, ऐसी चादनी क्या सदा रहती है ? मेरे तो जी मे आता है कि जीवन-भर ऐसे ही लेटे-लेटे चाद को देखती रहूँ ।'

इतने ही मे कुँआँ बोला–'दादा, अमराई में ब्याह के गीत अभी से गाने शुरू करवा दो ।'

दादा ने पूछा–'कैसा ब्याह ?'

उसने कहा–'देखते नही, प्रेम का पहला चरण प्रारंभ हो गया; दूसरे चरण में कविताएँ बनेंगी, तीसरे चरण मे पागलपन का अभिनय होगा, चौथे चरण में सगाई हो जायगी ।'

मुझे मन-ही-मन गुदगुदी-सी जान पड़ने लगी । सोचा, आजइसे खिझाऊँगी । मैंने हँसकर कहा -'दादा, देखो अपने-अपने भाग्य की बात है । ईश्वर ने तुम्हें इतना ऊँचा बनाया है । तुम अपनी असंख्य अंजुलियों से सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का अजस्र पान करते हो और दिगदिगंत से आती हुई वायु में स्नान करके विस्तृताकाश में सर उठाकर प्रकृति की अनंत विभू-
. . . ते हो । नक्षत्रों से भरी हुई रात में शत-शत पक्षियों
. हुए तुम चंद्रलोक की कहानी सुना करते हो, उषा और

गोधूलि नित्य तुम्हे स्नेह से चूम लिया करते हैं, प्रकृति का अनत भंडार तुम्हारे लिए उन्मुक्त है। मैं तुम्हारे जैसी ऊँची तो नहीं हूँ, फिर भी दूर तक फैली हूँ। वसुंधरा अपनी सुषमा मेरे सामने बिखेर देती है, आकाश सूर्य और चंद्रमा की किरणों का जाल मेरे ऊपर फैला देता है। वसंत की मादकता, सावन की सजल हरियाली और शरद की स्वच्छ सुषमा मेरे जीवन में स्फूर्ति प्रदान करती रहती है। मैं केवल जीती ही नहीं, जीवन का उपभोग भी करती हूँ। किन्तु मुझे दुःख उन लोगों को देखकर होता है जिन्हें न तो सूर्य का प्रकाश मिलता है, न चंद्रमा की किरणें, अंधकार ही जिनके जीवन की भित्ति है और सूनापन ही जिनकी एक कहानी है। वे आकाश को उतना ही बड़ा समझते हैं जितना उनके भीतर समाता है, वसुन्धरा को उतनी ही दूर तक समझते हैं जितना वे देख सकते हैं। दादा! उनका अस्तित्व कैसा दयनीय है, तुमने कभी सोचा है?'

दादा कुछ नहीं बोले, शायद सो गए थे। लेकिन कुँआ बोला—'सुन रहे हो, दादा? पगडंडी कितना सच कह रही है! ऐसे लोगों से अधिक दयनीय जीवन किसका होगा? कुछ दिन पहले मैं भी यही सोचा करता था, किन्तु मुझे जान पड़ा कि संसार में और भी अधिक दयनीय जीवन हो सकता है। ईश्वर ने जिसे सूर्य और चंद्रमा के आलोक से वंचित रखा, आकाश का विस्तार और वसुन्धरा का वैभव जिसे देखने नहीं दिया, उस पर दया करके कम-से-कम उसे एक चीज दे दी, जिससे वह संसार का उपकार कर सकता है, जिसे वह अपना कह सकता है, जिसके द्वारा वह संसार का किसी-न-किसी रूप में लक्ष्य बन सकता है। किन्तु उससे अधिक दयनीय तो वे हैं जिनके सामने सृष्टि का सारा वैभव बिखरा पड़ा है, किन्तु जिनके पास अपना कहने को कुछ भी नहीं। रेखागणित की रेखा की तरह उनका अस्तित्व तो है, किन्तु उसकी मुटाई लम्बाई, चौड़ाई सब कुछ काल्पनिक है। उनका अस्तित्व किसी दूसरे के अस्तित्व में अन्तर्निहित है! ये

रामी के साधन हैं, किन्तु लक्ष्य किसी के भी नहीं। ऐसे लोग भी दुनिया में हैं। दादा, क्या उन पर तुम्हें दया नहीं आती ?'

दादा बिलकुल सो गये थे। मैंने तैश में आकर कहा—'रामी के कुँआँ, यदि तुम समझते हो कि तुम संसार के लक्ष्य हो और मैं केवल साधन-मात्र, तो यह तुम्हारी भूल है। संसार में जो कुछ है साधन ही है, लक्ष्य कुछ भी नहीं। लक्ष्य शब्द मनुष्य की उलझी हुई कल्पना का फल है। लक्ष्य एक भावना-मात्र है, स्थूल और प्रत्यक्ष रूप में जिस किसी का अस्तित्व है, वह साधन ही है, चाहे जिस रूप में हो।'

कुँएँ ने गम्भीर स्वर में कहा—'तुमने मेरा नाम लेकर पुकारा, इसके लिए धन्यवाद। मैं उत्तर में केवल दो बातें कहूँगा। पहली तो यह कि हमारा और तुम्हारा कोई अपना झगड़ा नहीं है, मैं समझता हूँ, व्यक्तिगत रूप से न तुमने मुझे कुछ कहा है, न मैं तुम्हें कुछ कह रहा हूँ। दूसरी बात यह है कि जैसा तुम कह रही हो, लक्ष्य और साधन में प्राकारिक अन्तर न होते हुए भी पारिमाणिक अन्तर है। संसार में लक्ष्य नाम की कोई चीज नहीं, ठीक है; यहाँ जो कुछ है, किसी-न-किसी रूप में साधन ही है, यह भी ठीक है। फिर भी मानना पड़ेगा कि साधनों में कुछ साधन ऐसी अवस्था में हैं, जिन्हें साधन के अतिरिक्त दूसरा कुछ कहा ही नहीं जा सकता, और कुछ साधन ऐसी अवस्था में पहुँच गए हैं, जिन्हें संसार अपनी सुविधा के लिये लक्ष्य ही कहना अधिक उपयुक्त समझता है। इसका प्रत्यक्ष और स्थूल प्रमाण यह है कि कुछ लोगों के यहाँ संसार आता है, हाथ फैलाकर कुछ माँगता है और फिर चला जाता है, संसार की स्थूल व्यावहारिक भाषा में वे तो हुये लक्ष्य; और कुछ लोग हैं ऐसे जिनके यहाँ संसार आता है, किन्तु इसलिये नहीं कि उनसे कुछ लेना चाहता है, बल्कि इसलिये कि उनके द्वारा वह अपने लक्ष्य के पास पहुँच सकता है। तुम्हारी सूक्ष्म दार्शनिक भाषा में ऐसे लोग हुये साधन। समझीं ?"

मैं कुछ कहना ही चाहती थी कि उसने रोक दिया, कहा—'देखो, तुम्हारी चाँदनी डूब गई, अब तो सो सकती हो या नहीं ?'.

कुछ दिन और बीते। मेरे प्रेम की आग पर आत्माभिमान की राख पड़ने लगी। कुँआँ संसार का लक्ष्य है, मैं केवल एक साधन हूँ। फिर मेरा उसका प्रेम कैसे हो सकता है ? मैं कभी-कभी सोचती, प्रेम में प्रतियोगिता कैसी ? मान लो, वह संसार मे सब कुछ है और मैं कुछ भी नहीं, फिर भी क्या यह यथेष्ट कारण है कि यदि मैं उससे प्रेम करूँ तो वह उसका प्रतिदान न दे ? कुँआँ अपने सासारिक महत्व के गर्व में चूर है। वह समझता है कि उसके सामने मैं इतना तुच्छ हूँ कि मुझसे प्रेम करना तो दूर रहा, भर मुँह बोलना भी पाप है। वह मुझसे घृणा करता है, मेरा उपहास करता है, बात-बात में मुझे नीचा दिखाना चाहता है ! बर्बर पुरुष जाति !

मैं दिनोंदिन उससे दूर हटने की चेष्टा करने लगी। उसके सामीप्य मे मेरा दम घुटने लगा। वह महत्वशाली है, ससार उसके सामने भिखारी बनकर आता है, और मैं ? मेरा तो कोई अस्तित्व ही नहीं, किसी लक्ष्य तक पहुँचने का एक साधन-मात्र हूं। मेरी उसकी क्या तुलना ?

साँझ-सवेरे गाँव की स्त्रियाँ आती और पानी भर ले जाती। अलस दुपहरी मे पथिक अमराई मे विश्राम करने के लिये आते और कुएँ के पानी में सत्तू सानकर खाते, फिर थोड़ी देर वृक्षों के नीचे लेटकर अपनी राह चले जाते। गाव के छोटे-छोटे लड़के अमराई मे आकर फल तोड़ते, कुएँ से पानी खींचते और फिर फल खाकर मुँह-हाथ धोकर चल जाते। जहाँ देखो उसकी चर्चा, उसकी बात। मैं अपनी नगण्यता पर मन-ही-मन कुढ़कर जली-सी जाती। मुझे जान पड़ता, मानो संसार मेरा उपहास कर रहा है, आकाश मेरा तिरस्कार कर रहा है, पृथ्वी मेरी अवहेलना कर रही है। मेरा अस्तित्व रेखागणित की रेखाओं और बिन्दुओ का अस्तित्व है। मैं सबकी हूँ, पर मेरा कोई नहीं। मैं भी अपनी नहीं, केवल ससार को किसी लक्ष्य तक पहुँचाने के

लिये साधन-सी बनकर जी रही हूँ। मुझे यहाँ से हटना ही पड़ेगा। चाहे जहाँ भी जाऊँ, जाऊँगी जरूर हृदय की शांति की खोज में वन-वन भटकूँगी, वसुन्धरा के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक के अनन्त विस्तार को छान डालूँगी, यदि कहीं शांति नहीं मिली तो किसी मरुभूमि की विशाल सैकत-राशि में जाकर विलीन हो जाऊँगी, या किसी विजन पर्वत-माला की अन्धेरी गुफा में जाकर सो रहूँगी, फिर भी यहाँ न रहूँगी। यहाँ से मैं हटने का उपक्रम करने लगी।

आधी रात थी। चाँदनी और अन्धकार अमराई के वृक्षों के नीचे गाढ़ालिंगन में बंधे सो रहे थे। मुझे उस रात की सारी बातें अब भी याद हैं, मानो अभी कल ही की हों। मैं अपने अतीत-जीवन की कितनी ही छोटी-छोटी स्मृतियाँ सहेज रही थी। इतने में कुँए ने पुकारा—'पगडंडी !'

निशीथ के सूनेपन में उसकी आवाज गूँज उठी! मैं चौंक पड़ी। इतने दिनों के बाद आज कुँआ मुझे पुकार रहा है, मेरा कौतूहल उमड़ने लगा।

मैंने कहा—'क्या है ?'

कुँआ थोड़ी देर चुप रहा, फिर पुकारा—'पगडंडी !'

शायद उसने मेरा बोलना सुना ही नहीं। मुझे आश्चर्य होने लगा, क्या आज कोई अभिनय होगा। मैंने मधुर स्वर से कहा—'क्या है ?'

कुँआ बोला—'पगडंडी, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ।'

मैंने कहा—'पूछो।'

वह बोला—'शायद तुम यहाँ से कहीं जा रही हो ?'

उस समय बिजली भी गिर पड़ती तो मुझे इतना आश्चर्य न होता। इसे कैसे मालूम हुआ? यदि मान लूँ कि किसी तरह मालूम भी हो गया, तो फिर इसे क्या मतलब? मैं क्षण भर में ही न जाने क्या क्या सोच गई, हिलते हुए पत्तों-सा मेरा हृदय उथल-पुथल हो उठा, किन्तु मैंने सारा आवेग दबाकर उदासीन स्वर में कहा—'हाँ।'

कुँआँ थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला—'तुम इस अमराई से जा रही हो, अच्छा है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ।'

मैं कुछ उत्तर देने जा रही थी, तब तक उसने रोक दिया—'ठहरो, मेरी बात सुन लो। जब तुम पहले-पहल यहाँ आई थीं, तब जितना प्रसन्न मैं हुआ था, उतना और कोई नहीं। आज जब तुम यहाँ से जा रही हो, तब भी जितनी खुशी मुझे हो रही है, उतनी और किसी को नहीं। तुम इसका कारण जानती हो ?'

मैं कुछ नहीं बोली।

वह कहने लगा—'मैं तुम्हें किसी दिन कहने वाला ही था। तुमने स्वयं जाने का निश्चय कर लिया। यह और भी अच्छा हुआ।'

मैंने अन्यमनस्क-सी कहा—'संसार में जो कुछ होता है, अच्छा ही होता है।'

कुँआँ बोला—'पगडंडी, तुम यहाँ से जा रही हो, संभावना यही है कि फिर तुम लौटकर नहीं आओगी। तुम्हारे जाने के पहले मैं तुमसे अपने हृदय की बात, एक चिर-संचित बात कहूँगा, सुनोगी तो ?'

मेरे हृदय में उस समय दो धारायें बह रही थीं; एक संशय की, दूसरे विस्मय की। फिर भी इतना है कि संशय से अधिक मुझे विस्मय ही हुआ। मैंने सारा कौतूहल दबाकर कहा—'कहते जाओ।'

कुँआँ कहने लगा—'मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है। केवल दो बातें हैं। तुमसे कभी नहीं कहा था। इसका कारण यह है कि अब तक कहने का समय नहीं आया था। तुम अब जा रही हो, जान पड़ता है कि वह समय आ गया इसलिए कह रहा हूँ।'

थोड़ा रुककर, फिर उसने अपने स्वाभाविक दार्शनिक ढङ्ग से कहना शुरू किया—

'पहली बात यह है कि तुम्हारे प्रति अगाध प्रेम होते हुए भी आज तक मैंने

जाहिर क्यों नहीं होने दिया ? मुझे याद है, जिस दिन आकाश के ज्योतिष्पथ की तरह तुम पहले-पहल अमराई में आकर बिछ गईं, उस दिन मैंने बट दादा से पूछा था—'दादा, यह कौन है ? दादा ने विनोद से कहा—तुम्हारी बहू ! मैं झेंप गया। तब से लेकर आज तक एक युग बीत गया। कितने बसंत आए, कितनी बरसातें आईं, इस अमराई की सघन छाया में हम दोनों ने कितनी कहानियाँ सुनीं, कितने गीत सुनकर फिर भूल गए और कितनी बार हम आपस में लड़े-झगड़े हैं। इस जीवन की छोटी-से-छोटी घटना भी मेरे स्मृति-पट पर अमर-रेखा बनकर खिच गई है और उन टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं को जोड़कर जो अक्षर बनते हैं, उनका एक मात्र अर्थ यही निकलता है कि इस अमराई में छोटी, पतली-सी जो पगडंडी है, उस पगडंडी के सूने, उपेक्षित जीवन का जो निष्कर्ष है वह किसी एक युग या एक देश का नहीं, विश्व-भर का अनन्तकाल के लिये आलोक-स्तम्भ बन सकता है। वह न रहे, किन्तु उसकी कथा युग-युग तक कल्पना-लोक के विस्तृताकाश में स्त्रीत्व का आदर्श बन आकाश-दीप सी झिलमिलाती रहेगी।'

'किन्तु इतना होते हुए भी आज तक मैंने तुमसे कभी कुछ कहा क्यों नहीं ?

'इतना ही नहीं, मैंने अब तक तुम्हारे प्रति केवल उदासीनता और कठोरता के भाव ही प्रदर्शित किए। नीरस उपेक्षा, आलोचनात्मक विनोद, इसके अतिरिक्त मुझे याद नहीं, मैं और भी तुम्हें कुछ दे सका हूँ या नहीं। किन्तु क्यों ? केवल एक ही कारण था।

'पगडंडी, मैं तुम्हें जानता था, तुम्हारे हृदय को अच्छी तरह पहचानता था। मैं तुम्हारे जीवन का दार्शनिक अध्ययन कर रहा था। मैं जानता था, संसार के कल्याण के किस अभिप्राय को लेकर तुम्हारे जीवन का निर्माण हुआ है। मैं जानता था, किस लक्ष्य को लेकर विश्व की रचनात्मक शक्ति ने तुम्हें स्वर्ग से लाकर इस अमराई की घासों और पत्तों की सेज पर सुला

दिया है। मैं यह भी जानता था कि तुम्हारे अन्तस्तल का जो अन्तर्निहित अभि-प्राय है वह जिस पथ पर चलकर तुम अधिक-से-अधिक प्राप्त कर सकती हो।

'जिस महान् उद्देश्य को लेकर तुम चली हो उसमें मैं मानता हूँ इच्छा रहते हुए भी तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता। किन्तु हाँ, एक काम कर सकता हूँ। गायक अपनी तान को आरोह-अवरोह के बीच में नचाता हुआ से आकर सम पर टिका देता है। सुनने वाले उसे सहायता नहीं दे सकते, किन्तु अंत में सम पर एक बार सर हिला देते हैं। तान लौटकर घर आ गई, सबका सर हिल गया। पगडंडी, अपने जीवन के उच्चादर्श को तुम्हें अकेले ही निभाना पड़ेगा, मैं केवल इतना ही कर सकूँगा कि जिस दिन तुम्हारे जीवन की तान लौटकर घर आ जायगी, उस दिन उस संगीत में अपने को बहाकर सर हिला दूँगा। तुम्हारे जीवन-संगीत के सम पर अपने को निछावर कर दूँगा, बस।

'प्रेम से स्वर्ग मिलता है, किन्तु उससे भी ऊँचा, उससे भी पवित्र एक स्थान है। उसका वही पथ है जिस पर तुम जा रही हो—सेवा। प्रेम सभी कर सकते हैं, किन्तु सेवा सभी नहीं कर सकते। प्रेम करना संसार का स्व-भाव है, किन्तु सेवा एक साधना है। प्रेम हृदय की सारी कोमल भावनाओं का आकुञ्चन है सेवा उसका प्रसार। प्रेम में स्वयं लक्ष्य बनकर अपना एक कोई लक्ष्य बनाना पड़ता है, सेवा में अपने को संसार का साधन बनाकर संसार को अपनी साधनाओं की तपोभूमि बना देना पड़ता है। प्रेम यज्ञ है और सेवा तपस्या। प्रेम से प्रेमिक मिलता है और सेवा से ईश्वर।

'जन्म से लेकर आज तक तुम सेवा के पथ पर रही हो और अब भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हो। तुम्हारे मार्ग में जो सबसे बड़ा विघ्न बनकर खड़ा हो सकता है वह है प्रेम। प्रेम मनुष्यत्व है और सेवा देवत्व। तुम्हारी आत्मा स्वर्गिक होते हुए भी तुम्हारा शरीर भौतिक है। आत्मा और शरीर का द्वन्द्व संसार की अमर कहानी है। वसंत जब अपना मधुकलश पृथ्वी पर

कथा-वीथी

उड़ेल देता है, वर्षा जब वन वन मे हरियाली बिखरा देती है, शरद्
शुभ्राभ्र-खंड जब आकाश में तैरने लगते हैं, तब आत्मा की साधनाओं
शरीर छोटे-छोटे सपने छीट देता है, सामवेद की मधुर गभीर ध्वनि में
मलार की मस्तानी तानें भीग जाती हैं, सोमरस मे कादम्ब की बूंदें
पड़ती हैं, कैलास मे वसत आ जाता है। यह बहुत पुरानी कथा है।
युगान्तर से यही होता आया है, और यही होता रहेगा। फिर भी सभी
भूल जाते हैं। आँखें झप जाती हैं, तपस्या के शुभ्र प्रत्यूष में अनुराग
अरुण उषा छिटक पड़ती है, साधना का बर्फ गलने लगता है, लगन की
मुरझाने लगती है, हृदय की एकातता मे किसी की छाया घुस पड़ती
जागृति में अँगड़ाई भर जाती है, स्वप्नों में मादकता भीन जाती है और
…और जब आँखें खुलती हैं तब कहीं कुछ नहीं रहता। फिर से नई कहा
शुरू होती है—नई यात्रा होती है, नया प्रस्थान होता है। इसी तरह
संसार चलता है।

'आत्मा के ऊपर शरीर का सबसे बड़ा प्रभाव है संशय। जब संस
मे सभी किसी-न-किसी से प्रेम करते हैं, सभी का कोई-न-कोई एक अपना
जब किसी से प्रेम करना, किसी के प्रेम का पात्र बनना प्राणिमात्र का अधि
कार है, तब फिर मैं—केवल मैं ही—क्यों इससे वंचित रहूँ ? यह जीवन
अमर समस्या है, शाश्वत प्रश्न है।

'किन्तु सत्य क्या है, लोग यह समझने की बहुत कम चेष्टा करते हैं
जिनके पैर हैं वे जमीन पर चलते हैं किन्तु जिन्हें पंख मिले हैं यदि वे
जमीन पर ही चलें तो यह अपनी शक्तियों का दुरुपयोग है। जिन्हें ईश्वर
आकाश में उड़ने के लिए बनाया है उनके लिए पृथ्वी पर चलना अपने महत्त्व
की उपेक्षा करना है, अपने आपको भूलना है।

'प्रेम करने की योग्यता सब में है; किन्तु सेवा करने की शक्ति किसी
किसी को ही मिल

आती रि है । जिसे ईश्वर ने संसार में अकेला बनाया है, धन-वैभव नहीं
दिया है, सुख मे प्रसन्न होने वाला और दुःख मे गले लगाकर रोनेवाला साथ
नहीं दिया है, ससार के शब्दो मे जिसे उसने दुखिया बनाया है, उसके जीव
में एक महान् अभिप्राय भर दिया है, शक्ति का एक अमर स्रोत, बेचैनी भ
तड़फड़ाती हुई आँधी, उसके अन्तर मे सँजोकर रख दिया है । हो सकता
वह इसे न समझे शायद गमार भी इसे न समझे; फिर भी वह नही है
ऐसी बात नहीं, वह है, आवश्यकता है केवल उसे समझने की ।

'पगडंडी, तुम ईश्वर की उन्हीं रचनाओ मे से एक हो । तुम्हारा निर्मा
इसलिए नहीं हुआ है कि तुम एक की होकर रहो, एक के लिए जिओ औ
एक के लिए मरो । नही, तुम पृथ्वी पर एक बहुत बडा उद्देश्य लेकर आ
हो । जेठ की धधकती हुई लू में, भादों की अजस्र वर्षा मे और शिशिर
तुषार-पात में इसी तरह लेटी रह कर तुम्हें असख्य मनुष्यों को घर से बाह
और बाहर से घर पहुँचाना पड़ेगा । सभ्यता के विस्तार के लिए, जीवन
सौख्य के लिए, ससार के कल्याण के लिए तुम्हें बड़ा-से-बड़ा त्याग करन
पड़ेगा । तुम्हारा कोई नहीं है, इसलिए कि सभी तुम्हारे हैं, तुम किसी की न
हो, इसलिए कि तुम सभी की हो । तुम अपने जीवन का उपभोग नहीं करत
हो, तुम विश्व की अक्षय विभूति हो ।

'आज के पहले मैंने तुमसे कभी कुछ नही कहा था, कारण यह था
पगडंडी ! मेरी स्पष्टवादिता को क्षमा करना—कि तुम्हारी आत्मा सोई हु
थी केवल शरीर जगा था । तुम नही समझती थी कि तुम कौन हो, किस
लिये यहाँ आई हो, तुम ससार के पुराने पथ पर चलना चाहती थी । आ
चाहे जिस कारण से हो, तुम्हें अपने वर्तमान जीवन से असंतोष हो गया
तुम्हें अपने से घृणा हो आई है । आज तुम अनंत मे कूदने जा रही हो, ससा
मे कुछ करने जा रही हो, तुम्हारी आत्मा जग उठी है । इन बातों को कह
का मुझे आज ही अवसर मिला है ।

'पगडंडी, तुम ऐसा न समझना कि मैं तुमसे स्नेह नहीं करता, उससे भी अधिक मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ। फिर भी अपने व्यक्तित्व को तुम्हारे पथ में खड़ा करके मैं तुम्हारी आत्मा की प्रगति को रोकना नहीं चाहता। मैं तुम्हारी चेतना में अपनी छाया डालकर उसे मलिन नहीं करना चाहता। तुम्हारी संगीत-लहरी में अपवादी स्वर बनकर उसे बेसुरा बनाना नहीं चाहता। मैं बड़े उल्लास से तुम्हें यहाँ से विदा करता हूँ। जाओ—संसार में *जहाँ अधिक-से-अधिक तुम्हारा उपयोग हो सके, वहाँ जाओ और* अपने जीवन को सार्थक बनाओ—यही मेरी कामना है, यही मेरा संदेश है, यही मेरा···क्षमा करना···आशीर्वाद है।

'केवल एक बात और कहनी है 'मेरी हृदयहीनता' को भूल जाना—हो सके तो क्षमा कर देना। मेरे भी हृदय है, उसमें भी थोड़ा रस है, पर मैंने *जान-बूझ कर उसे सुखा दिया, उसे आँखों में नहीं आने दिया, ओठों पर से* पोंछ डाला। तुम्हारे कर्तव्य-पथ को मैं अपने आसुओं से गीला नहीं बनाना चाहता—पगडंडी, मेरी व्यथा समझने की कोशिश करना, यदि न समझ पाओ तो: तो फिर सब कुछ भूल जाना।

संसार तुम्हारी राह देख रहा है, अनंत तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। *जाओ, अपना कर्तव्य पालन करो। संसार तुम्हें कुचले तो तड़पना नहीं, भूल* जावे तो सिसकना नहीं! भूले हुए पथिकों को घर पहुँचा देना, जो घर छोड़ कर विदेश जाना चाहते हों उनकी सहायता करना, जब तक जीना खुश रहना, कभी किसी के लिए रोना नहीं और—एक बात और—यदि तुम्हारे हृदय में कभी प्रेम की भावना आ जाय तो कोशिश करके, अपने अस्तित्व *का सारा बल लगाकर, उसे निकाल डालना। यदि न निकाल सको तो फिर* यहाँ से कहीं दूर—बहुत दूर चली जाना।

'पगडंडी! विदा! तुम अपने ज्योतिर्मय भविष्य में अपने धुँधले [illegible]त को डुबो देना। सब कुछ भूल जाना—बट दादा और राम्री के कुआँ

को भूल जाना। केवल यही याद रखना कि तुम कौन हो और तुम्हार कर्तव्य क्या है—बस जाओ, बिदा !—ईश्वर तुम्हें बल दे।"

कुआँ चुप हो गया। आधी रात की स्वप्निल नीरवता में जान पड़त था कि उसका स्वर अब भी गूँज रहा हो, शब्द अंतरिक्ष में अब भी घुमड़ते फिरते हों। मैं कुछ बोल नहीं सकी। तन्द्रा-सी छा गई, काठ-सा मार गया उनके अन्तिम शब्द अर्धरात्रि के शून्य अन्धकार में बिजली के अक्षरों में मानो चारों ओर लिखे हुए-से उग रहे थे—बस जाओ, बिदा, ईश्वर तुम्हें बल दे

ठीक-ठीक याद नहीं आता, कितने दिन हुए, फिर भी एक युग-स बीत गया। मेरी आँखों के सामने वह स्वरूप आज भी रह-रहकर नाच उठत है। कानों में वे शब्द अब भी रह-रहकर गूँज उठते हैं।

अब मैं राजधानी का राजमार्ग हूँ। दोनों ओर सहेलियों की तरह द फुट पाथ हैं, धूप और वर्षा से बचने के लिए दोनों ओर वृक्षों की कतारें हैं रोशनी के बिजली के खम्भे हैं, और न जाने विभव-विलास की कितनी चीज़ें हैं। मेरा श्रृंगार होता है, मेरी देख-रेख में हजारों रुपए खर्च किए जाते हैं राजमहिषी की तरह मेरा सत्कार होता है, जहाँ तक दृष्टि जाती है—बस मैं ही मैं हूँ।

उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। मैं शहर की धमनी हूँ, इसका रक्त प्रवाह मुझी से होकर चारों ओर दौड़ता है। मैं सभ्यता का स्तम्भ हूँ, राज्य सत्ता का प्राण हूँ। इतनी भीड़ रहती है कि सोचने की फुर्सत भी नहीं मिलती। जन-समुद्र की अनंत लहरें मुझे कुचलती हुई एक ओर से दूसरी ओर निकल जाती हैं, मैं उफ तक नहीं करती। इतनी भीड़ में मुझे अपना कहने वाला एक भी नहीं, एक क्षण के लिए भी मेरा होने वाला कोई नहीं मेरे जलते हुए अविराम जीवन पर सहानुभूति की दो बूँद छिड़क दे, ऐसा कोई नहीं, फिर भी मैं व्यथित नहीं होती, खुश रहने की कोशिश करती हूँ वेदना के होठों पर मुसकराहट की राख बिखेरती हूँ, ओठों में हृदय क

राधाकृष्ण | अवलम

उस पुराने घर में न जाने कितने परिवारों का निवास है। उन्ही
से एक घर में सीताराम रहता है। सारा घर बिलकुल सड़ियल है। खा
करके सीताराम का अपना कमरा देखने लायक है। पुराने रोगी की तर
चारो ओर घायल दीवारें खड़ी हैं। पलस्तर लोना होकर छूट रहा है। एक लो
की टूटी सी पुरानी चारपाई है जो किसी समय अच्छी रही होगी। फ
पुराने बिस्तर हैं, मैले सिरहाने पर अंग्रेजी तथा हिन्दी किताबों का बो
पड़ा हुआ है। कुछ किताबों के पन्ने फट गए हैं, और कमरे में चारों ओ
बिखरे पड़े हैं। कोने में एक सुराही है उसके समीप काँच का एक गिलास
दीवाल पर कुछ अंग्रेजी अखबारों से काटकर निकाले गये चित्र टँगे हैं, उन
देशी-विदेशी दृश्यावलियों की झाँकी है, सुन्दर है। सबसे अच्छी है उस
महात्मा गाँधी की एक तसवीर।

यही कमरा है जहाँ सीताराम रहा करता है। उसकी भृकुटियाँ त
रहती हैं। हाथ में नीले लाल रंग की पेंसिल लेकर किताबों पर सर झुका
वह न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। बड़ी देर पर वह कुछ मुस्करा
है, और किताब पर कहीं लाल रंग का निशान बना देता है।

संसार मे वसन्त आता है, जाड़ा आता है, भाँति-भाँति की ऋतु
अपनी राह चलती हैं, लेकिन उस कमरे मे सदा एक ऋतु ऐसी बनी रह
है, जिसका अस्तित्व बाहर के संसार मे और कहीं नहीं देखा जा सकता
कमरे मे ऊपर छत के साथ चिपकी एक टाट की चाँदनी है वह भी जग
जगह पर फट गई है। चारों कोनो मे मकड़ी का जाला तना है जहाँ
सर्वदा मच्छरों का समूह संगीत-चर्चा मे मस्त रहता है।

कथा-वी

राधाकृष्ण | अवलम्

उस पुराने घर मे न जाने कितने परिवारों का निवास है। उन्ही
से एक घर में सीताराम रहता है। सारा घर बिलकुल सड़ियल है। सा
करके सीताराम का अपना कमरा देखने लायक है। पुराने रोगी की तर
चारो ओर घायल दीवारें खड़ी हैं। पलस्तर लोना होकर छूट रहा है। एक लो
की टूटी सी पुरानी चारपाई है जो किसी समय अच्छी रही होगी। फटे
पुराने बिस्तर हैं, मैले सिरहाने पर अंग्रेजी तथा हिन्दी किताबो का बो
पड़ा हुआ है। कुछ किताबों के पन्ने फट गए हैं, और कमरे में चारों ओ
बिखरे पड़े हैं। कोने में एक सुराही है उसके समीप काँच का एक गिलास
दीवाल पर कुछ अंग्रेजी अखबारो से काटकर निकाले गये चित्र टँगे हैं, उन
देशी-विदेशी दृश्यावलियो की झाँकी है, सुन्दर है। सबसे अच्छी है उस
महात्मा गाँधी की एक तसवीर।

यही कमरा है जहाँ सीताराम रहा करता है। उसकी भृकुटियाँ त
रहती हैं। हाथ मे नीले लाल रंग की पेंसिल लेकर किताबों पर सर झुका
वह न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। बड़ी देर पर वह कुछ मुस्करा
है, और किताब पर कहीं लाल रग का निशान बना देता है।

संसार मे वसन्त आता है, जाड़ा आता है, भाँति-भाँति की ऋतु
अपनी राह चलती हैं, लेकिन उस कमरे मे सदा एक ऋतु ऐसी बनी रह
है, जिसका अस्तित्व बाहर के संसार मे और कहीं नही देखा जा सकता
कमरे में ऊपर छत के साथ चिपकी एक टाट की चाँदनी है वह भी जग
जगह पर फट गई है। चारो कोनों मे मकड़ी का जाला तना है जहाँ प
सर्वदा मच्छरों का समूह संगीत-चर्चा मे मस्त रहता है।

राधाकृष्ण | अवलम्ब

उस पुराने घर में न जाने कितने परिवारों का निवास है। उन्हीं में से एक घर में सीताराम रहता है। सारा घर बिलकुल सड़ियल है। खास करके सीताराम का अपना कमरा देखने लायक है। पुराने रोगी की तरह चारों ओर घायल दीवारें खड़ी हैं। पलस्तर लोना होकर छूट रहा है। एक लोहे की टूटी सी पुरानी चारपाई है जो किसी समय अच्छी रही होगी। फटे-पुराने बिस्तर हैं, मैले सिरहाने पर अंग्रेजी तथा हिन्दी किताबों का बोझ पड़ा हुआ है। कुछ किताबों के पन्ने फट गए हैं, और कमरे में चारों ओर बिखरे पड़े हैं। कोने में एक सुराही है उसके समीप काँच का एक गिलास। दीवाल पर कुछ अंग्रेजी अखबारों से काटकर निकाले गये चित्र टँगे हैं, उनमें देशी-विदेशी दृश्यावलियों की झाँकी है, सुन्दर हैं। सबसे अच्छी है उसमे महात्मा गांधी की एक तसवीर।

यही कमरा है जहाँ सीताराम रहा करता है। उसकी भृकुटियाँ तनी रहती हैं। हाथ में नीले लाल रंग की पेंसिल लेकर किताबों पर सर झुकाये वह न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। बड़ी देर पर वह कुछ मुस्कराता है, और किताब पर कहीं लाल रंग का निशान बना देता है।

संसार मे वसन्त आता है, जाड़ा आता है, भाँति-भाँति की ऋतुएँ अपनी राह चलती हैं, लेकिन उस कमरे मे सदा एक ऋतु ऐसी बनी रहती है, जिसका अस्तित्व बाहर के संसार मे और कही नही देखा जा सकता। कमरे मे ऊपर छत के साथ चिपकी एक टाट की चाँदनी है वह भी जगह-जगह पर फट गई है। चारों कोनो में मकड़ी का जाला तना है जहाँ पर सर्वदा मच्छरो का समूह संगीत-चर्चा में मस्त रहता है।

छिपाये रहती हूँ । यहाँ तक होता है, उसने जो कुछ कहा था सब कुछ करती हूँ । केवल एक ही बात नहीं होती, उसे भूल नहीं पाती !

अमराई की छाया में पातों और पत्तों पर वह जीवन, पक्षियों के गाने, लताओं का झगड़ा, बट दादा की कहानियाँ, और......और क्या कहूँ ? कितनी बातें हैं जो भुलाई नहीं जा सकतीं ! मेरे जीवन-संगीत की तान लौटकर सम पर आती है, आकर फिर लौट जाती है, पर किसी का सर नहीं हिलता !

यह पुराना इतिहास है । कोई क्या जाने ! एक समय था जब मैं ऐसी नहीं थी !

राधाकृष्ण | अवलम्ब

उस पुराने घर में न जाने कितने परिवारों का निवास है। उन्ही में
एक घर में सीताराम रहता है। सारा घर बिलकुल सड़ियल है। खास
के सीताराम का अपना कमरा देखने लायक है। पुराने रोगी की तरह
रों ओर घायल दीवारें खडी हैं। पलस्तर लोना होकर छूट रहा है। एक लोहे
टूटी सी पुरानी चारपाई है जो किसी समय अच्छी रही होगी। फटे-
ने बिस्तर हैं, मैले सिरहाने पर अंग्रेजी तथा हिन्दी किताबों का बोझ
हुआ है। कुछ किताबों के पन्ने फट गए हैं, और कमरे में चारों ओर
रे पड़े हैं। कोने में एक सुराही है उसके समीप कांच का एक गिलास।
ाल पर कुछ अंग्रेजी अखबारों से काटकर निकाले गये चित्र टंगे हैं, उनमें
ी-विदेशी दृश्यावलियों की झांकी है, सुन्दर हैं। सबसे अच्छी है उसमे
रमा गांधी की एक तसवीर।

यही कमरा है जहां सीताराम रहा करता है। उसकी भृकुटियां तनी
ी हैं। हाथ में नीले लाल रंग की पेंसिल लेकर किताबो पर सर झुकाये
न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। बडी देर पर वह कुछ मुस्कराता
और किताब पर कहीं लाल रंग का निशान बना देता है।

संसार मे बसन्त आता है, जाड़ा आता है, भांति-भांति की ऋतुएं
ी राह चलती हैं, लेकिन उस कमरे मे सदा एक ऋतु ऐसी बनी रहती
जिसका अस्तित्व बाहर के संसार मे और कहीं नहीं देखा जा सकता।
रे में ऊपर छत के साथ चिपकी एक टाट की चांदनी है वह भी जगह-
ह पर फट गई है। चारों कोनो मे मकड़ी का जाला तना है जहां पर
ा मच्छरों का समूह संगीत-चर्चा मे मस्त रहता है।

कमरे के बाद एक छोटा-सा बरामदा है, नाम मात्र का एक आंग एक ओर कमरा और कुछ नहीं। आंगन की ओर की खिड़की सदा खुली रहती है। उस खिड़की की ओर से आने वाली हवा में एक विचित्र ठंडक एक विचित्र गंध मिली रहती है जैसे कुछ पत्तों के सड़ने की सी दुर्गन्ध हो किसी नये आगन्तुक को यह गंध अच्छी नहीं लग सकती।

सीताराम एक कम्पनी में किरानी है। पचासों क्लर्कों के बीच वह सब से जूनियर है। बीस रुपये का वेतन है जिससे रोटी चलती है। वह खुद हजामत बना लेता है, उसकी स्त्री खुद बर्तन मांजती है, कपड़े-लत्ते खुद धो लेती है। तीन लड़के-बच्चे भी हैं जो सुख की अपेक्षा अधिक झंझट हैं।

सीताराम को सुबह से लेकर दस बजे तक फुरसत रहती है। दोपहर में वह आफिस जाता है। उसका आफिस क्या बिलकुल गोरखधन्धा है। वहा के और सभी लोग बंगाली हैं। उनके सुख-दुःख, हँसी-दिल्लगी, सब कुछ अपने लोगों में सीमित है। सीताराम से न कोई प्रीति रखता है न सरोकार। अक्सर वे लोग उसकी अनुपस्थिति मे उसका मजाक उड़ाते हैं। सीताराम वहाँ सब को नापसन्द है और बेमेल बनकर रहता है। लोग उसके काम की त्रुटियाँ निकालना ही सबसे अधिक मनोरंजन की सामग्री समझते हैं। बार-बार अपनी गल्तियों के लिए उससे कैफियत तलब की जाती है। कैफियत का जवाब तो वह दे लेता है लेकिन उसका कलेजा धक-धक करता रहता है कि कहीं किसी बहाने से उसे हटाकर उसकी जगह किसी बंगाली को न दे दी जाय।

यह बीस रुपये की नौकरी है कि झंझट। इस नौकरी की उलझन सुलझाये नहीं सुलझती। बोझ सँभाले नहीं सँभलता। वह सदा सब सीनियर लोगों से त्रस्त रहता है। अगर यह रोजी छिन जाय तो वह जायगा कहाँ? और अमंगल की छाया सदा उसके पीछे-पीछे दौड़ती रहती है।

गरीबों के दोस्त नहीं होते। दोस्ती मतलब की होती है। गरीबों से

भला क्या मतलब सधे ? सीताराम का कोई दोस्त नहीं है, अपने भी नहीं। वह सदा का अकेला है, हमेशा अपने को अकेला ही पाता है ।

और यह जो उसके सिरहाने किताबों का बहुत बड़ा बोझ पड़ा हुआ है, उसमें न कोई महाकाव्य है न धर्म-ग्रन्थ, और न कोई उपन्यास ही । ये महज कारखानों-दूकानों के सूची पत्र हैं, न जाने कितनी कम्पनियों के कैटलाग होंगे, ह्वाइट वे लैडला, बंगाल स्टोर, सुख-संचारक कम्पनी, शृङ्गार महौषधालय, आयुर्वेदीय फार्मेसी, शक्ति औषधालय, थैकर स्पिंक, न्यूमैन तथा न जाने कितने और । उसकी यह आदत भी है कि जहाँ किसी नई कम्पनी का नाम मिला कि उसने पोस्टकार्ड रवाना किया । फिर तीन चार दिन के अन्दर ही पोस्टमैन आकर उसके कमरे में एक बन्द सूचीपत्र फेंक जाता है ।

बस, ये ही सूचीपत्र आते हैं और न किसी की चिठ्ठी आती है न पत्री। दुनिया में उसका कहीं कोई नहीं है ।

स्त्री अपढ़ है। पैसों के अभाव की चर्चा वह निरन्तर मुखर होकर करती है। दिन-रात पैसों की हाय-हाय । सीताराम इस खटराग से चिढ़ जाता है। कोई कैसी भी चीज चाहिए जिसे पाकर वह अपने दुखद स्थिति को भूलकर कुछ सुख पाये ।''''''दुनिया में सब कुछ पैसों से मिलता है। तो फिर ये ही सूचीपत्र उसके मन-बहलाव के सामान हैं ।

दुनिया में सूर्योदय बहुत देर का हो चुका था। लेकिन सीताराम के कमरे में न सम्पूर्ण अन्धेरा ही था न पूरा प्रकाश। परिवर्तन से मुक्त यह कमरा साँझ-विहान सदा इसी तरह से रहा करता था। आस-पास के रहने वाले किरायेदार अपने-अपने काम से पीछे व्यस्त थे। उसके बगल वाले कमरे में आज गीत-गान का प्रबन्ध था। हारमोनियम के किसी खास स्वर के साथ तबले के मिलाने की ठि ठि घप की आवाज आ रही थी। गली के उस पार सामने रहनेवाला दूकानदार अपनी एक बूढ़ी ग्राहिका से पुराने

पैसों का तकाजा करने के पीछे निःसंकोच होकर गालियों का प्रयोग कर रहा था। बुढ़िया गाली का जवाब तो गाली से न देती लेकिन अपने कंठ स्वर को उसने इतनी तरक्की दे दी थी कि बरबस लोगों का ध्यान उस ओर खिंच जाता था।

घर के भीतर उसकी स्त्री बरतन मांज रही थी और अपनी सप्त वर्षीया पुत्री निर्मला को चूल्हे की आग को फूंकने का आदेश दे रही थी।

समीप एक विद्यार्थी के कमरे से भी—हल्ला मचा हुआ था। लोग अश्लील दिल्लगियाँ कर रहे थे और उजड्ड की तरह से हँस रहे थे।

लेकिन सीताराम का ध्यान किसी ओर न था। वह एक पैराम्बुलेटर वाले का सूचीपत्र लेकर उसके पन्ने उलट रहा था। बाज वक्त वह घंटों पन्ने नहीं उलटता। पेंसिल को ललाट से सटाकर बहुत कुछ सोचता और तब धीरे से किसी पर एक लाल निशान बना देता। उस समय उसकी आँखें चमकती रहतीं। मुख दमकता रहता।

वह तीस-बत्तीस से ज्यादा उम्र का नहीं होगा! लेकिन गालों में गड्ढे पड़ गये थे। आँखें धँस गई थीं। ललाट के ऊपर सिर के बहुत से बाल उड़ गये थे। देखने पर पचास पर पहुँचा हुआ लगता था। ललाट पर सिकुड़न और हड्डी पर लगे चमड़ों की कालिमा बताती थी कि यह हँसी-खुशी के जीवन को छोड़कर बहुत आगे बढ़ गया है। मैली धोती, आँखों पर बहुत ज्यादा पावर का चश्मा; देह पर एक छिद्रों से परिपूर्ण जापानी गंजी पहिने हुए वह चुपचाप सूचीपत्र पढ़ रहा था।

वह क्या पढ़ता था। अक्सर वह सूचीपत्र में लिखी सारी चीजों की तारीफ पढ़ता। जिन चीजों की उसे जरूरत होती या जिन चीजों की खासी तारीफ रहती उन पर उसका मन ललचाना स्वाभाविक था फिर पेंसिल से पसन्द हुई चीज पर एक लाल दाग दे देने में हर्ज क्या है? कभी किसी सुविधा के समय वह इन चीजों को मँगायेगा। उस समय उसके पास

काफी रुपये होंगे । सभव है कि उस समय किसी लाटरी में उसका नाम निकल आये। या यह भी सम्भव है कि उस समय तक वह हेड क्लर्क हो जायगा उसे ऐसा लगता वह दिन बहुत समीप ही है, जैसे कल ही । वह सूचीपत्र से चीजों को पसन्द करता । जी में तरह-तरह की कल्पनायें उठतीं। सुख की हिलोरें आने लगती । वह भूल जाता कि वह एक महा निर्धन आदमी है। और सुख उसके जीवन में शायद कभी नही आने वाला है ।

जैसे साँझ के रंगीन आसमान मे दूर पर उड़ती हुई चिड़ियाँ ऐसी लगती हैं मानों वह छितिज से सट ही गई हों, लेकिन सम्भवतः वह छितिज से उतनी ही दूर रहती है, जितनी दूर से देखने वाला उन्हें क्षितिज के बिलकुल समीप देखता है। सीताराम के मन की यही हालत थी। अपनी कल्पना में वह क्षितिज के बिलकुल निकट पहुँच जाता है। अभाव...... शायद उसे कोई भी अभाव नहीं। वह इन चीजों को पसन्द कर रहा है, तो फिर मँगाये क्यों नहीं ?

......यह पैराम्बुलेटर बहुत ही अच्छा है, मेरी छोटी सी शैला इस पर खूब शोभेगी । साँझ को वह उसे पैराम्बुलेटर पर बैठा देगा। घर के सब लोग चलेंगे। उसकी स्त्री पैराम्बुलेटर को सड़क पर चलाती हुई चलेगी। दोनों मुस्करा कर बातें करेंगे। आह, उस समय कितना सुख होगा। लेकिन उसका पाँच वर्ष का लड़का त्रिपुरारी भी पैराम्बुलेटर पर चढ़ने के लिए मचल उठेगा। अरे वह तो बात-बात पर जिद ठान लेता है। मन की बात न हो तो रोने लगे। तो हर्ज क्या है, पैराम्बुलेटर कुछ छोटा नहीं; कमजोर भी नहीं। तस्वीर मे इतना अच्छा लगता है तो देखने मे कितना अच्छा होगा।.......... . . ...बैठ जायगा त्रिपुरारी भी क्या हर्ज है ? वह रोता है तो अब उसे समझावे कौन ? और निर्मला मेरी उँगली पकड़ कर चलेगी। वह बहुत बक-बक करती है। एक-एक चीज को देखकर पूछेगी कि यह क्या है ? तो इसका क्या होना है ? यह बना कैसे ?

ऊँह, मैं तो जवाब देते-देते परेशान हो जाऊँगा । अरे यह दूसरा पैराम्बुलेटर तो उससे भी अच्छा है । उफ् कितना सुन्दर है । शैला के लिए वह इसी पैराम्बुलेटर को लेगा । दाम । इसकी तीन किस्तें हैं । सबसे बढ़िया १२५ रु०, उससे कम ११० रु० और सबसे घटिया··············· अजी, जब इस तरह का पैराम्बुलेटर लेना ही है तो सबसे बढ़िया क्यों न लें ! लूँगा तो बस सवा सौ का लूँगा । चीज देखते हुए दाम कुछ ज्यादा नहीं । नीचे स्प्रिंगों की भरमार है ? और चमक कितना रहा है ?······ ·············न, वह जरूर इसी को लेगा ।

सीताराम ने पेंसिल से उस पर निशान बना दिया ।·····और ये बच्चों के लिए ट्राइसाइकिल्स हैं लेकिन जब पैराम्बुलेटर आ जायगा तो यह साइकिल किसलिए ? अरे हाँ, त्रिपुरारीलाल माह, वह इसे पाकर कितना खुश होगा । किसी को छूने भी नहीं देगा । साइकिल पर चढ़ कर वह मचला-मचला फिरेगा । और फिर जब शैली के लिए सुन्दर पैराम्बुलेटर आ रहा है तो त्रिपुरारी के लिए कुछ न आये यह अन्याय है । उसके लिए भी एक साइकिल जरूरी है । यह ········ ''यह इसका कितना दाम है ? बीस ! नहीं नहीं वह इससे अच्छी चीज लेगा··· ·····और क्या उस गरीब निर्मला के लिए कुछ भी नहीं । उसके लिए भी एक साइकिल लेनी जरूरी है । वह स्कूल जायगी न ·· ·· मगर भीड़-भड़क्के में उसका साइकिल पर चढ़कर जाना ठीक नहीं । संयोग को कौन कह सकता है । स्कूल की लॉरी पर ही स्कूल चली जाया करेगी · ।

''सीताराम बाबू !''

एक कर्कश आवाज सुनाई पड़ी । सीताराम ने चौंक कर उसकी ओर देखा । वह झुँझला उठा था और भीतर ही घबरा गया था । वह घर का मालिक था और पिछले छः महीने का किराया माँगने आया था । सीताराम वादे करके टाल देता और किराया बराबर बढ़ता चला जा रहा था ।

उस घर के मालिक को सीताराम के काल्पनिक पैराम्बुलेटर पर तनिक भी तृष्णा नहीं थी। उसे अपने रुपयों से मतलब था। कठोर स्वर में बोला, "साहब आप तो अच्छे आदमी हैं। मैं जब आता हूँ, आप बराबर टाल मटूल करते हैं। आखिर रुपया इतना बढ़ गया है, फिर आप दोगे कहाँ से ? आज मेरा पूरा-पूरा हिसाब चुकता कर दीजिए। अब बिना जोर-जुल्म किये आप नहीं मानेंगे······।"

सीताराम की आँखें त्रस्त और करुण हो आईं, मानो वह घोर जंगल के बीच भेड़िये से घिर गया हो। उसने बड़े विनीत भाव से कहा "बाबू साहब, आज तो······आज मुझे माफ करना पड़ेगा।"

बाबू साहब ने पूछा, "आखिर आप कोई खास दिन भी तो बतलाइये। यों ही रोज दौड़ कर मैं कब तक आऊँ ?"

सीताराम का मन शान्त हुआ। उसने बिना कुछ सोचे-विचारे बड़े सहज स्वर में कहा, "आप सत्ताइस तारीख को आ कर अपना कुल रुपया ले जाइये।"

सीताराम के कहने का ढंग ऐसा था, जैसे सत्ताइस तारीख को वह किसी राजा को भी तृप्त कर सकता है, जैसे उस दिन वह कोई करोड़पति हो जायगा।

लेकिन उसने मन ही मन निश्चित कर लिया था कि उस दिन वह घर से बहुत दूर टहलने जायगा, जहाँ पर बाबू साहब की परछाईं भी नहीं पहुँच सकती······रुपये ?··· ··भला जो धेले-धेले के लिए तरसता हो ······।

सेठ जी के जाने के बाद वह बड़ी अशान्ति अनुभव करने लगा। सचमुच बड़ी गर्मी पड़ रही थी। उसे भूख भी मालूम होने लगी। वह सूचीपत्र देखने के फेर में सब कुछ भूल गया था। आज न उसने कुछ जल-पान किया था, न चाय ही पी थी। उसने उठकर अपना काठ का बक्स खोला। एक कोने में एक चवन्नी रक्खी थी और कुछ पैसे। अभी महीने में

कथा-वीथी

आठ दिन बाकी थे और फुटकर खर्च के लिए केवल उतना ही बचा था। उसने पैसों को लेकर गिना। सात थे। वह दो पैसे की एक प्याला चाय पियेगा। दो पैसे का जलपान करेगा। तीन पैसे बच रहेंगे, जिसमें से वह एक पैसे का पान खायेगा। उसने सोचा, बाकी इन दो पैसों को रख ही दूँ, बेकार ले जाने से कोई लाभ नहीं, संभव है, खर्च हो जायें। फिर कह उठा —अरे लिये भी चलूँ..........।

—एक दिन सुबह को सीताराम बैठ हुआ सदा की भाँति कैटलाग देखने में व्यस्त था। ह्वाइट वे लेडला का नवीन सूचीपत्र आया था। सीताराम की खुशी का कोई ठिकाना नहीं। उसने देखा कई चीजों की कीमत घट गई है। कुछ की बढ गई हैं। वह तरह तरह की चीजों को पसन्द कर रहा था। अपने लिए कोट, जूते और क्या-क्या मँगायेगा। निर्मला त्रिपुरारी और शैला सब के लिए अच्छी-अच्छी चीजें आयेंगी। वह खुश था और अपने को व्यस्त समझ रहा था।

उसकी स्त्री चम्पा आकर बोली—तुम फिर वह खटराग ले बैठे। रात को तुमने वादा किया था न, कि शैला को आज अस्पताल ले जाओगे। *शैला सबसे छोटी लड़की थी। इधर दो दिन से बीमार थी। शरीर तपता* रहता; बार-बार हिचकी और उबकाई आती और बेचारी कलप कर रो उठती।

रात को सीताराम ने कहा था कि सुबह इसे अस्पताल ले जाऊँगा। लेकिन वहाँ पर भी कोई अच्छी दवा मिलने की उसे उम्मीद नहीं थी, इसी कारण सूचीपत्र के पन्ने उलट रहा था।

स्त्री की बात सुनकर वह मन ही मन बहुत लज्जित हुआ, और मूँठ मूँठ चौंकने का भाव दिखला कर बोला—ओ हो मैं तो भूल ही गया था। लाओ जरा मेरा छाता ले आओ।

ह्वाइट वे लेडला के यहाँ के बाहर रुपये जोड़े जूते पहिनने का हौसला रखने वाले सीताराम ने पैरों में सवा बरस के चप्पल पहिने पैवन्द से परि-

पूर्ण छाता लिया, और शैला को गोद में लेकर अस्पताल की ओर चला।

सुबह के आठ बज चुके थे। मई महीने की धूप अपना रंग दिखा रही थी। बाजार खुला हुआ था। लेन-देन, क्रय-विक्रय, एक्का, ताँगा, मोटर फिटन, आदि सब का शोर-गुल एक अजीब तरह का लगता था।

एक तो बुखार, दूसरे बाहर की गर्मी, शैला पिता के कंधे पर चिपक गई थी। सीताराम धीरे-धीरे कभी उसका माथा सुहला कर कह उठता, "डर नहीं बेटी, डर नहीं। हम लोग अस्पताल चल रहे हैं। वहाँ डाक्टर तुम्हें खूब मीठी दवा देगा।"

शैला क्या बोलती। उसे बोलना आता ही नहीं था। उसकी आँखें बन्द हो गई थी और वह जोर-जोर से साँस ले रही थी।

अस्पताल में पहुँच कर भी उसे शैला को दिखलाने की सुविधा नहीं मिली। डाक्टर वहाँ पर रोगियों की भीड़ से घिरा हुआ था। कोई कायदा नहीं। जो पाता वही आगे बढ़कर डाक्टर को अपना रोग बतलाता। डाक्टर किसी को जरा यों ही कुछ देर देख लेता और नहीं तो केवल बात सुनकर ही प्रिसक्रिप्शन लिख कर दे देता। भले आदमी यानी जिनके कपड़े साफ थे, गले में सोने के बटन चमक रहे थे, उन लोगों से डाक्टर कुछ दिलचस्पी दिखलाकर बातें करता था।

सीताराम आशा से देख रहा था कि जरा भीड़ छँटे तो वह शैला को दिखलाये। लेकिन ग्यारह बज गये, डाक्टर को फुरसत नहीं मिली और वह एकाएक कुर्सी खिसकाकर उठकर खड़ा हो गया। सीताराम उसकी ओर बढ़ा आ रहा था, जिसे देखकर बोला "अब अभी नहीं, अब शाम को आना।"

और उसने टँगे हुए टोप को उतार कर सिर पर रक्खा और चल दिया। कमरा खाली हो रहा था। बाहर रोगी आपस में तरह-तरह की बातें कर रहे थे, कम्पाउंडर की खिड़की पर लोगों के सर झुके हुए थे। भीड़ खूब थी। सीताराम शैला को लिये हुए उसी चिलचिलाती धूप में घर

लौटा। आज आफिस पहुँचने में उसे काफी देर हुई थी, जिसके लिए हेड क्लर्क की झिड़कियाँ भी सुननी पड़ीं।

रात हो गई थी सीताराम के कमरे में फूटी चिमनी की लालटेन जल रही थी। उसके सामने दवाइयों का एक सूचीपत्र था, जिसमें से वह शैला के लिए एक दवा चुन रहा था।

चम्पा ने आकर कहा, "तुम शाम को उसे अस्पताल नहीं ले गए? अभी चलकर देखो तो, बेचारी छटपटा रही है।" सीताराम ने उसकी ओर झुंझलाई आँखों से देखा किन्तु कुछ कहा नहीं।

अभी वह एक अच्छी दवा पा गया था। उस दवा की एक दो खुराक से ही बच्चों का कैसा भी बुखार छूट सकता था।

सीताराम की आँखों की ओर देखकर चम्पा सहम गई। कातर सी होकर पूछा, "क्या कुछ जरूरी काम कर रहे हो?"

सीताराम ने सरोष कहा, "तुम यहाँ से भागो, बेवकूफ कहीं की।" फिर उसने सिर झुका लिया 'बंगाल केमिकल' के सूचीपत्र में से कोई बहुत ही अच्छी दवा ढूँढने लगा। वह इतना व्यस्त हो गया था, मानो सूचीपत्र की दवा पाकर शैला अच्छी हो जायगी।

आखिर आधे घंटे के बाद मनचाही दवा मिली। और उसी समय चम्पा घबड़ाई हुई कमरे मे आकर बोली, 'अरे, आओ तो, जरा उसे देखो ....हाय भगवान्... . ...!"

वह अधीर सी और फफक-फफक रो रही थी। माँ का रोना सुनकर दोनो बच्चे भी रोते-रोते कमरे मे घुस आये। सीताराम ने कैटलाग को फेंक दिया और उठकर बोला, "घबड़ाओ नही, उसे मेरे पास लाओ। मैं उसे अभी किसी डाक्टर के यहाँ ले जाता हूँ।"

वह जानता था कि बक्स मे कुछ नही है। लेकिन फिर भी बक्स को खोल कर डाक्टर की फीस और दवा के दाम के लिए पैसे खोजने लगा।

अज्ञेय | रोज

दोपहर में उस घर के सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था ......

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचान कर उसकी मुरझाई हुई मुख-मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय से जगी-सी और फिर पूर्ववत् हो गई। उसने कहा—"आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा—"वे यहाँ नहीं हैं ?"

"अभी आए नहीं, दफ्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जायेंगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं।"

"कब के गए हुए हैं ?"

"सवेरे उठते ही चले जाते हैं।"

मैं 'हूँ' कहकर पूछने को हुआ, "और तुम इतनी देर क्या करती हो ?" पर फिर सोचा, आते ही एकाएक यह प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लाई, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुये कहा—"नहीं, मुझे नहीं चाहिए।" पर वह नहीं मानी, बोली—"वाह ! चाहिये कैसे नहीं ! इतनी धूप में तो आये हो। यहाँ तो—"

मैंने कहा—"अच्छा लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करने को थी, पर तभी दूसरे कमरे में शिशु के रोने

कथा-कोदी

की आवाज़ सुनकर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर ह
टेक कर एक थकी हुई 'हुँह' करके उठी और भीतर चली गई ।

मैं उसके जाते हुये दुबले शरीर को देखकर सोचता रहा—यह म
है···यह कैसी छाया सी इस घर पर छाई हुई है····

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहिन है, किन्तु उसे सखी कहना
उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है । हम बचप
से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं,और हमारी पढ़ाई भी बहुत कु
इकट्ठे ही हुई थी । और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा औ
स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नह
घिरा ।

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ । जब मैंने उसे इसरो
पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी । अब वह विवाहिता है, एक बच्चे
की माँ भी है । इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया
होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था, किन्तु अब उसकी पीठ की
ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था,यह कैसी छाया इस घर पर छाई हुई
है···और विशेषतया मालती पर···

मालती बच्चे को लेकर लौट आयी और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे
बिछी हुयी दरी पर बैठ गई । मैंने अपनी कुर्सी घुमा कर कुछ उसकी ओर
उन्मुख हो कर पूछा—इसका नाम क्या है ?

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया—नाम तो कोई
निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं ।

मैंने उसे बुलाया—टिटी ! टिटी ! आजा !—पर वह अपनी बड़ी-
बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा
सा होकर कहने लगा—उहूँ उहूँ-उहूँ-ऊँ...... ।

फिर उसने मेरी ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन

को ओर देखने लगी।

काफी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमे मैं प्रतीक्षा मे था कि मालती कुछ पूछे ; किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की—यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ, चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष मे ही वे बीते दिन भूल गई ? या अब मुझे दूर--इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है ? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती··पर फिर भी, ऐसा मौन जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिये···

मैंने कुछ खिन्न सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा—जान पड़ता है ; तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई !

उसने एकाएक चौंक कर कहा—हूँ।

यह 'हूँ' प्रश्नसूचक था ; किन्तु इसलिये नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इसलिये मैंने अपनी बात दुहराई नहीं, चुप बैठा रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी ; किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा—उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था ; मानों मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुनः जाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो··· वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग मे न लाये हुये अङ्ग कोई व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिर-विस्मृति में मानों मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता···मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेंकना चाहे,

पर उतार न पाये... ।

तभी किसी ने द्वार खटखटाए । मैंने मालती की ओर देखा, पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गए, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गई ।

वे, यानी मालती के पति आये । मैंने उन्हें पहली ही बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हे पहचानता था । परिचय हुआ । मालती खाना तैयार करने आँगन मे चली गई, और हम दोनों भीतर बैठकर बातचीत करने लगे-उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में उस स्थान के बारे में, आबोहवा के बारे में और ऐसे अन्य विषयों के बारे मे जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बनकर......

मालती के पति का नाम है महेश्वर । वे एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेंसरी के डाक्टर हैं । उसी हैसियत के इन क्वाटर्स में रहते हैं । प्रातःकाल सात बजे डिस्पेंसरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं । उसके बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं, डिस्पेंसरी के साथ के छोटे-से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य जरूरी हिदायतें करने...उनका जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है । नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ. .वे स्वयं उकताये हुये हैं, और इसलिये और साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वे अपने फुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं ।

मालती हम दोनो के लिए खाना ले आई । मैंने पूछा—"तुम नहीं खाओगी ? या खा चुकीं ?"

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर—"वह पीछे खाया करती हैं. . ।"

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी !

. ीयो

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले—"आपको तो खाने का मजा ही क्या आयेगा, ऐसे बेवक्त खा रहे हैं ?"

मैंने उत्तर दिया—"वाह ! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है-भूख बढ़ी हुई होती है। पर शायद मालती बहन को कष्ट होगा।"

मालती टोककर बोली—"उहूँ,मेरे लिए तो यह नई बात नहीं है। रोज ही ऐसा होता है.."

मालती बच्चे को गोद में लिए हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा—"यह रोता क्यों है ?"

मालती बोली—"हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चे को डाँटकर कहा—"चुप कर !" जिससे वह और भी रोने लगा। मालती ने भूमि पर बिठा दिया और बोली —"अच्छा ले, रो ले !" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गई।

जब हमने भोजन समाप्त किया, तब तीन बजने वाले थे। महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ताजनक केस आये हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा-दो की शायद टाँगें काटनी पड़ें, Gangrene हो गया है। थोड़ी ही देर में वे चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आई और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा—"अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली—"खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है।" किन्तु चली गई। मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिये शांत हो गया।

दूर—शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका। मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी, अपने-आप ही, एक लम्बी-सी, थकी हुई सांस के साथ कह रही है—"तीन बज गये......" मानों बड़ी तपस्या

के बाद कोई कार्य संपन्न हो गया हो · · · ·

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गई। मैंने पूछा—"तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो · · · · · ·"

"बहुत था—"

"हाँ, बहुत था ! भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रोब तो न जमाओ कि बहुत था !" मैंने हँसकर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई, बोली—"यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं। मुझे आए पंद्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाए थे, वही अभी बरती जा रही है ...."

मैंने पूछा—"नौकर कोई नहीं है ?"

"कोई ठीक मिला नहीं शायद दो-एक दिन में हो जाय।"

"बर्तन भी तुम्हीं माँजती हो ?"

"और कौन ?" कहकर मालती क्षण-भर आँगन में जाकर लौट आई।

मैंने पूछा—"कहाँ गई थीं ?"

"आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मजेंगे।"

"क्यों, पानी को क्या हुआ ?"

"रोज ही होता है—कभी वक्त पर तो आता नहीं। आज शाम को सात बजे आएगा, तब बर्तन मँजेंगे।"

"चलो, तुम्हें सात बजे तक छुट्टी तो हुई"—कहते हुए मैं मन ही मन सोचने लगा, 'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई !'

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था, पर मेरी सहायता की एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास आने की चेष्टा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा। मैंने जेब से अपनी नोट बुक निकाली, और पिछले दिनों के लिखे हुये नोट देखने लगा। तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आए कैसे ?"

मैंने कहा ही तो—"अच्छा, अब याद आया ? तुमसे मिलने आया था और क्या करने।"

"तो दो-एक दिन रहोगे न ?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।'

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गई। मैं फिर नोट बुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने, किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ ! पर बात भी क्या की जाय ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रहकर भी मानों मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस, निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती·····

मैंने पूछा—"तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं ?" मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

"यहाँ !" कहकर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी—यहाँ पढ़ने को है क्या ?

मैंने कहा—"अच्छा, मैं वापस जाकर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा. .."

और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया।

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा—"आये कैसे हो, लारी में ?"

"पैदल।"

"इतनी दूर ? बड़ी हिम्मत की !"

"आखिर तुमसे मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आये हो ?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैंने सोचा-बिस्तरा ले ही चलूँ।"

"अच्छा किया, यहां तो बस....." कहकर मालती चुप रह गई। फिर बोली–"तब तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नहीं, बिल्कुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नहीं हैं ! भला थके हैं ?"

"और तुम क्या करोगी ?"

"मैं बर्तन माँज रखती हूँ, पानी आएगा तो धुल जायँगे !"

मैंने कहा–'वाह !' क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं.....

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गई, टिटी को साथ लेकर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा, और सोचने लगा.....मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बर्तनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिलकर एक विचित्र एकस्वरता उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा.....

एकाएक वह एकस्वरता टूट गई—मौन हो गया। इससे मेरी तंद्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा—

चार खड़क रहे थे, और इसी का पहला घंटा सुनकर मालती रुक गई थी.....

वही तीन बजे वाली बात मैंने फिर देखी, अब की बार और भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यंत्रवत्–वह भी थके हुए यंत्र की भाँति—स्वर में कह रही है—"चार बज गए......" मानों इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने में ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यंत्रवत् फासला नापता जाता है, और यंत्रवत् विश्रान्त स्वर में कहता है (किससे !) कि मैंने अपने अमित शून्य पथ का इतना अंश तय कर लिया.....

न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गई......

°   °   °   °

तब छः कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आए हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिये हुये मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने ही को था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा—"आपने बड़ी देर की ?"

उन्होंने किंचित ग्लानि-भरे स्वर में कहा—'हाँ, आज वह Gangrene का आपरेशन करना ही पड़ा। एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा "Gangrene कैसे हो गया ?"

"एक काँटा चुभा था, उसी से हो गया। बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के.....।"

मैंने पूछा—"यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते हैं ? आपके लिहाज से नहीं, डाक्टरी के अभ्यास के लिए ?"

बोले—"हाँ, मिल ही जाते हैं। यही Gangrene हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है। नीचे बड़े अस्पतालों में भी. . . ."

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गई, बोली—"हाँ, केस बनते देर क्या लगती है ? काँटा चुभा था, उसपर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डाक्टरी है ? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास !"

महेश्वर हँसे। बोले—"न काटें तो उसकी जान गँवाएँ ?"

"हाँ ! पहले तो दुनिया में काँटे ही नहीं होते होंगे ? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हों।"

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिए। मालती मेरी ओर देखकर

बोली—"ऐसे ही होते हैं डाक्टर ! सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है । मैं तो रोज ही ऐसी बातें सुनती हूँ अब कोई मर-मुर जाय तो तो ख्याल ही नहीं होता । पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी ।"

तभी आँगन में खुले हुए नल ने कहा—टिप, टिप टिप, टिप, टटटिप··

मालती ने कहा—"पानी !" और उठकर चली गई । 'खनखन' शब्द से हमने जाना, बर्तन धोए जाने लगे हैं ।

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था । अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला । महेश्वर ने कहा—"उधर मत जा !" और उसे गोद मे उठा लिया । वह मचलने और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा ।

महेश्वर बोले—"अब रो-धोकर सो जायगा, तभी घर में चैन पड़ेगी।"

मैंने पूछा—"आप लोग भीतर ही सोते हैं ? गर्मी तो बहुत होती है ?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर ये लोहे के पलंग उठाकर बाहर कौन ले जाए ! अब की नीचे जाएंगे, तो चारपाइयाँ ले आएँगे ।" फिर कुछ रुककर बोले—"आज तो बाहर ही सोएँगे । आपके आने का इतना लाभ ही होगा ।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था । महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे । मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ ।" और दूसरी ओर से पलंग उठाकर बाहर निकलवा दिए ।

अब हम तीनों—महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलंगों पर बैठ गए और वार्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छिपाने के लिए टिटी से खेलने लगे । बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था; किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद करके रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था······और तब कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे······

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा—"थोड़े से आम लाया हूँ, वे भी धो लेना।"

"कहाँ हैं?"

"अँगीठी पर रखे हैं—कागज में लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाए और अपने आँचल में डाल लिए। जिस कागज में वे लिपटे हुए थे, वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी····वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया····बहुत दिनों की बात थी—जब हम अभी स्कूल में भरती हुए ही थे। जब हमारा सबसे बड़ा सुख, सबसे बड़ी विजय थी, हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी से स्कूल से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूर पर आम के बगीचे में पेड़ों पर चढ़कर कच्ची अमियाँ तोड़-तोड़ कर खाना। मुझे याद आया—कभी जब मैं भाग आता था और मालती नहीं आ पाती थी, तब मैं खिन्न मन लौट आया करता था····

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे। एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी, और कहा कि इसके बीस पेज रोज पढ़ा करो। हफ्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो। नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज, फाड़कर फेंक देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली?" तो उत्तर दिया—"हाँ, कर ली।" पिता ने कहा, "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा।" —तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली—"किताब मैंने फाड़ कर फेंक दी है। मैं नहीं पढ़ूँगी।"

[illegible]

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है······इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गई है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है······यह क्या है, यह······

तभी महेश्वर ने पूछा—"रोटी कब बनेगी ?"

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्त्तव्यभावना बहुत विस्तीर्ण हो गई। वह मालती की ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, नहीं माना। मालती उसे भी गोद में लेकर चली गई। रसोई में बैठकर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे हाथ से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठाकर अपने सामने रखने लगी।····

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की, प्रतीक्षा करने लगे।

° ° °

हम भोजन कर चुके थे, और बिस्तरों पर लेट गए थे। टिटी सो गया था, मालती उसे अपने पलंग के एक ओर मोमजामा बिछाकर उस पर लिटा गई थी। वह सो तो गया था; पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा—"आप तो थके होंगे, सो जाइए।"

वे बोले—'थके तो आप अधिक होंगे—अठारह मील पैदल चलकर आए हैं।" किन्तु उनके स्वर ने मानो जोड़ दिया—"थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप हो रहा। थोड़ी ही देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे। मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में (यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं), लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी। फिर मैं इधर-उधर खिसक कर, पलंग पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी। आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा—उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगनेवाली, स्लेट की छत की स्लेटें भी चाँदनी में चमक रही हैं, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही हैं, मानो चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो······

मैंने देखा—पवन में चीड़ के वृक्ष—गर्मी से सूखकर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष—धीरे-धीरे गा रहे हैं—कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं अशांतिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं,······

मैंने देखा—दिन भर की तपन, अशांति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप की नाईं उठकर वातावरण में खोए जा रहे हैं, और ऊपर से एक कोमल, शीतल, सम्मोहन, आह्लाद-सा बरस रहा है, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़-वृक्ष रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं ···

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने·· महेश्वर ऊँघ रहे थे, और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर, दही जमाने के लिये मिट्टी का बर्तन गर्म पानी से धो रही थी और कह रही थी "बस, अभी, छुट्टी हुई जाती है।" और मेरे कहने पर कि "ग्यारह बजने वाले हैं" धीरे से सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज़ ही इतने बज जाते हैं··· मालती ने यह सब कुछ नहीं देखा। मालती का जीवन अपनी रोज़ की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिये, एक संसार के सौन्दर्य के लिये, रुकने को तैयार नहीं था....

कथा-वीथी

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलग जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा। और वह एकाएक मानों किसी संतप्रेरित कामना से उठा और खिसक कर पलंग से नीचे गिर पड़ा और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। महेश्वर ने चौंककर कहा—"क्या हुआ ?" मैं झपटकर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आई, मैंने उस 'खट्' शब्द को याद करके, धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा—"चोट बहुत लग गई बिचारे के ...!"

यह सब मानों एक ही क्षण मे, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुये कहा—"इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण-भर के लिए मैं स्तब्ध हो गया। फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा—कहा मेरे मन के भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला—"माँ ! युवती माँ यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एक मात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो — और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है !"

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है। मैंने देखा कि सचमुच उस कटुम्ब मे कोई गहरी, भयंकर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुये चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं मैंने उस छाया को देख भी लिया।

इतनी देर मे, पूर्ववत् शांति हो गई थी। महेश्वर फिर लेटकर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपटकर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटे-से शरीर को हिला देती थी। मैं भी

-बीथी

अनुभव करने लगा था कि विस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी, किन्तु क्या चंद्रिका को ? या तारों को...?

तभी ग्यारह का घंटा बजा। मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठाकर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी और घंटा-ध्वनि के कंपन के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उसने कहा—"ग्यारह बज गए !....."

उषादेवी मित्रा | समझौता

इक्कीस वर्षीय कुसुम जब जीवन से समझौता करने बैठी, तब वह घबरा उठी---घबरा उठी।

वह उस दिन अपने-आपके सामने खड़ी थी, नहीं, वरन् यों कहिए कि निकट खड़ी थी, बिलकुल पास। और उस क्षुब्ध, आहत, कम्पित श्वास को प्रत्येक रोम मे अनुभव कर रही थी---स्वयं आप। मन के रन्ध्रों में से एक में द्वन्द्व चलने लगा-जीवन से समझौता ? उससे परिचय ! किन्तु समझौता कैसा ? जिस अखण्ड जीवन को न कभी पहचाना और जाना जा सकता है, उससे समझौता, उससे परिचय ? जिस जीवन पर प्रत्येक पल विचित्रता से एकाकार रहता है, निबिड़ परिचय की सन्धिवेला मे भी कभी जो परिचय छिन्न-भिन्न होकर रह जाता है। केवल मात्र नूतन परिचय और नवीन विस्मय, उसी जीवन से समझौता ?

नहीं---नहीं, यह तो एक असम्भव, अनहोनी बात है; किन्तु दूसरे पल दूसरे रन्ध्र से प्रश्न उठने लगे फिर इस तरह वह जी भी कैसे सकती है ?

इक्कीस वर्ष जो अभ्यास अणु-परमाणु में संक्रामक व्याधि-सा प्रवेश कर चुका है, उसे पलभर मे परिवर्तित करे कैसे ? इतने वर्ष के परिचित बाहर जगत् को त्यागकर वह अवगुण्ठिता वधू बने कैसे ? किसी के सन्तोष के लिए अपनी सत्ता को भूले—हँसी, रहन-सहन, इच्छा-अनिच्छा और भावना चिन्ता तक में परिवर्तन लावे कैसे ? चाहे सम्भव हो या असम्भव; किन्तु फिर भी उसी जीवन के साथ समझौता करने का पल उपस्थित था फिर उसे वह अस्वीकार कैसे कर दे ?

तीस, न चालीस और न पचास, केवल इक्कीस वर्ष तो अभी सहे

थे—जल से स्वच्छ, सुन्दर होकर। फिर अभी से समझौता, किन्तु अभी
भाग्य और निष्ठुर सत्य था, फिर क्या करती वह और क्या करता विधात

एक विधवा ने आकर उसके हाथ पर पत्र धर दिया, पूछा—दुल
दिन-रात यों ही सोचा करोगी, या स्नान-भोजन भी करना है ?

कुसुम का खिन्न चित्त और भी रूठ बैठा, बोली—भूख नहीं है।
घड़ी की ओर दृष्टि उठाई, दो बज रहे थे।

विधवा हँसी—तुमसे कितनी बार कह चुकी बहन सवेरे दूध-मि
भरपेट खा लिया करो। इस घर की रीति यही है कि मर्दों के भोज
पीछे स्त्रियाँ भोजन करती हैं। पगली, उठो-उठो। विधवा उसकी जेठानी
कुसुम के विवाह को दो-चार मास बीते होंगे। परेश विख्यात जमींदार

"मुझसे दूध-मिठाई नहीं खाई जाती।"

"जानती हूँ बहन—परम स्नेह से विधवा कहने लगी—"तुम
तरह से पली हो, पिता के घर पाश्चात्य रीति से रहती थी, पार्टि
जाती थीं, कालेज में पढ़ती थीं, सब जानती हूँ, परन्तु असामञ्जस्य
सामना जब कभी हम स्त्रियों के जीवन में आ जाता है, तब उसे सँभाल
निबाहना भी हमारा ही धर्म है।"

कुसुम का जी चाहने लगा कि वह कह दे कि स्त्रियों के लिए
त्याग करना आदि, क्या पुरुष का धर्म कुछ भी नहीं है ? किन्तु नहीं,
फिर भी चुप रह गई। इन बेसमझों से वह कुछ भी नहीं कहना चाह
महेश्वरी कह चली—"परेश को दोष देना वृथा है। जन्म से लेकर अभी
वह जिस स्थिति में पुष्ट हुआ है, वहाँ पाश्चात्य छाया तक को न पहुँच
उसके लिए स्वाभाविक है, तो क्या तुम दुख पाओगी कुसुम ? घृणा—
करना ?"

"हाँ, घृणा ही समझो, क्योंकि वह परिस्थिति थी ही ऐसी, जहाँ
देखा, सीमा नारी के अन्तर्मुखी रूप को, सेवा, त्याग को, लज्जा,

और संयम को। अनमेल हो गया है, बड़ा भारी अनमेल कुसुम। किन्तु इसके लिए न तो परेश, एम० ए० दोषी है और न विदुषी कुसुम ! मात-पिता। बरन् नहीं नहीं, यों कहिए कि दिन की परिस्थिति ही ऐसी है। पहले छोटे में विवाह होता था, जब कि वर-वधू के मन की वृत्तियाँ कोमल रहती थीं, अभ्यास का बन्धन गम्भीर न होने पाता था। और अब की बात दूसरी है, बीस-बाइस वर्ष की अवस्था में न जाने कितने तर्क, शंकायें, अभ्यास मत-स्वातंत्र्य आदि मन में दृढ़ता से अंक जाते हैं। तुम कहोगी, यह क्रीत-दासी का युग नहीं है और न अन्ध-विश्वास का। यह स्वाधीनता और स्वतन्त्रता का युग है। मैं स्वीकार करती हूँ, इसे। कहना केवल इतना है कि प्रकृति के राज्य में न जाने कितने अनमेल होते रहते हैं, किन्तु अपने निपुण कर से वह उन अनमेल को मेल कर देती है। करती है यह सब प्रकृति ही, पुरुष नहीं। अच्छा जल्दी आना बहन।"

२

आठ बजे दिन को कुसुम की आँख खुली। धूप फैल चुकी थी। उसने बगल में देखा, पति नित्य की भाँति छः बजे उठ गये थे। कुसुम उठकर बाहर आई। दृष्टि पड़ गई ठीक सामने, जहाँ नंगे बदन परेश बैठा तेल-मालिश करा रहा था।

विरक्ति, लज्जा से वह सहम-सी गई—छिः, कैसी नग्नता, असभ्यता है—न लज्जा है, न शर्म, अशिक्षित, मूर्ख, गँवारों की तरह नग्न बदन सबके सामने बैठे तेल-मालिश करा रहे हैं। वहाँ से स्त्रियाँ भी आ-जा रही हैं, किन्तु वे वैसे ही निर्विकार हैं। अर्द्ध-उलंग जाँघ पर वह गमछा, छिः छिः !

और उधर परेश उसे देखकर मुस्करा पड़ा। वह मुसकराहट कदाचित् प्रियतमा को अभिनन्दित करती हो—सुप्रभात, सुप्रभात।

परन्तु न जाने क्यों कुसुम की भौंहें सिकुड़ गईं, वह चुपचाप चली गई। स्नान कर लौटी तो दासी बोली—चाय ठंडी हो रही है।

विस्मय का प्रथम आवेग बह जाने के बाद सहम कर कुसुम उसके पीछे चल पड़ी। कमरे के बीच मे टेबुल रखी गई थी, प्लेटों मे अण्डे, डबल रोटी, मक्खन, बिस्कुट आदि। कुसुम को लगा उसे अपमानित करने के लिए; हास्यास्पद बनाने के लिए टेबुल पर प्रत्येक वस्तु चुनकर रखी गई है। अपमान नही तो क्या ? क्या वह जानती नहीं है कि उस घर मे यह वस्तुएँ कैसी दुष्प्राप्य हैं ? भोजन तो दूर की बात ठहरी—उन सबके छूने से यहाँ स्नान और गंगाजल स्पर्श की व्यवस्था है, तो पति उसे घर भर के सामने हास्यास्पद बनाना चाहते हैं ! केवल कौतुक ही नहीं—उसके अभिमान को, आत्ममर्यादा को व्यंग-परिहास से अति आहत भी करना चाहते हैं ! वह स्थिर निश्चय पर चली गई। और उसके नारीत्व का सारा सौन्दर्य सूख गया, अंग-प्रत्यंग कठोर हो उठे, मुख की रेखायें वक्र हो गईं।

द्वार पर से जेठानी ने पूछा—चाय ठंडी तो नहीं हो गई बहन ! और भेजूँ ?

एक अवज्ञा के साथ उसने उस ओर देखा, कहा—भेजो।

३

कपड़ा पहन कर परेश बाल सँवार रहा था ! दुष्ट ग्रह की नाईं कमरे में घुसी कुसुम—"कहाँ जा रहे हो ?"

"सिनेमा।"

"मैं भी चलूँगी !"——वह बोली इस तरह, मानों उस संसार के नियम शृंखला, आचार आदि को दोनों हाथों से दबाकर, पीसकर निश्चित कर देना चाहती हो और स्वयं वहाँ की एकछत्र रानी बन जाना चाहती हो। परेश का मुँह सूख गया, उस घर के कुत्ते, बिल्ली तक ने जिस बात को कभी नहीं किया, उसे वह कैसे करे ? पत्नी के लिए बहुत कुछ त्याग और परिवर्तन करना है, सो तो वह करता ही चला आ रहा है, किन्तु जो बात उसके अधिकार के बाहर की है, उसे वह करे कैसे ?

"चलो।" कुसुम ने कहा।

"चलोगी, तो कपड़े बदल लो।"

"बदल आई हूँ।"

विस्मय के साथ परेश पत्नी को देखने लगा। उस दृष्टि को कुसुम सह न सकी—आगे चल दी।

"ब्लाउज तो पहन लेती।"—धीरे बोला परेश।

"ब्लाउज नहीं तो क्या है ?"

पत्नी के कहने से उसने आश्चर्य-चकित नेत्र उठाये—हूँ। महीन जार्जेट की साड़ी के नीचे छोटा सा वेस्टकोट की तरह कुछ है, शायद उसी का नाम ब्लाउज हो। वह चुप ही रहा।

भोजन पर बैठा था परेश, भाभी पंखा कर रही थी, कुसुम पान बनाते-बनाते बोली—"जीजी, कल का फिल्म अच्छा था, इंग्लिश फिल्म था न! तुमने तो जिन्दगी भर देखा भी न होगा सिनेमा। नहीं न? यदि चलती कभी, तो देख पाती, मर्द कैसे असभ्य होते हैं। छिः छिः, मेरा तो वहाँ बैठना मुश्किल कर दिया, मानों मैं कोई तमाशा पहुँच गई वहाँ, घूर-घूर कर देखना और गजल गाना। पूछो न इनसे।"

"क्यों भैया? और तुम बैठे-बैठे देख रहे थे?"

"फिर करता ही क्या?"

"करते क्या? क्या तुम मर्द नहीं हो? घर की बहू······"

परेश उत्तर देना न चाहता था; परन्तु फिर भी कहना पड़ा—"यदि नग्न सत्य को तुम मुझसे सुनना चाहती हो तो सुनो। कहता था कि अब स्त्रियाँ स्वयं ही अपनी लज्जा को विवस्त्र करना चाहती हैं, अपनी नग्नता विश्व को दिखलाना चाहती हैं, तो विश्व यदि सहज कौतुक से, विस्मय से उस ओर एक बार देख ले, तो हम उसे अपराधी कैसे कह सकते हैं? अपना सम्मान तो अपने हाथ है में भौजी। पालक का साग बड़े मजे का बना है, कथा-बीची

और थोड़ा देना।"

४

धीरे-धीरे कुछ वर्ष बीते। कुसुम अब इस परिवार के आचार-व्यवहार को कुछ समझने लग गई थी। रुपये-पैसे जेठानी ने सब उसी को सौंप दिये थे। परेश घर में बहुत कम रहता, अपने ग्राम आदि के देखने में–बाहर ही-बाहर महीने के बीस दिन निकल जाते। कुसुम कभी सिनेमा में जाती, कभी जी चाहता, तो मायके चल देती। उसके कार्य की न कोई समालोचना करता और न निषेध।

पूर्ण द्विप्रहर में कुसुम उस दिन मूल्यवान कोच पर पड़ी थी। उसके चहुँ ओर ऐश्वर्य का उज्ज्वल रूप था और उस ऐश्वर्य के भीतर पड़ी हुई स्वयं वह अवश्य रूपसी थी। परन्तु फिर भी उस रूप में किसी एक वस्तु की कमी थी। कदाचित् कोमलता हो, या और कुछ हो। कौन जाने। न जाने किस दैत्य के अत्याचार से उसका शरीर रूखा, कर्कश-सा, हो रहा था। न जाने किस निर्मोही ने उसके अन्तर, बाहर का सब सौन्दर्य, मिठास चुन-सा लिया था। पलकों में विराग, वितृष्णा की गहरी रेखा पड़ गई थी और ओष्ठाधर पर विद्रोह की हँसी।

वह सोच रही थी—उसका जीवन सार्थक होने जाकर भी व्यर्थ क्यों हो गया। उसका सपना केवल सपना ही क्यों रह गया? इसका अपराध वह किसके मत्थे मढ़े, अपने पति के अथवा पिता-माता के, परिस्थिति के या ईश्वर के? नहीं—नहीं—नहीं, जो कि प्रत्यक्ष नहीं है–ऐसे व्यक्ति की सत्ता वह स्वीकार नहीं कर सकती। ईश्वर तो भक्तों की एक भावना है। यदि वह है, तो वह उसे देख क्यों नहीं पाती?

"बहूजी"—उसकी चिन्ता में बाधा पड़ी।

"क्या है?" इस स्पष्ट स्वर को सुनकर मालिन चुप रही।

"कहती क्यों नहीं, क्या बात है, बिना हुक्म के कमरे में क्यों आई?

यदि मेरे सामने आना था, तो साफ कपड़े क्यों न पहन आई ?"

"और कपड़े नहीं हैं रानी !"—वह डरते-डरते बोली ।

"तो आई क्यों ? कैसी दुर्गन्ध फैल रही है ?"—कुसुम ने सेण्ट की शीशी उठा ली—"जल्दी कह, क्या कहती है ?"

"दूसरा माली लगा लिया, हम भूखों मरते हैं मालिक !"

"तो मैं क्या करूँ ? आठ दिन न तू आई, न माली काम पर आया, फिर लगा न लेती तो क्या करती ?"

"वे तो अब भी बेसुध पड़े हैं, मेरा बुखार अब कुछ मद्धिम भया, उधर लड़के भूखे मर रहे हैं । कुछ दे दो रानी !"—वह उसके पैरों से लिपट गई ।

"अरे छोड़ -छोड़, पैर मैले हो जायेंगे । सब तुम्हारी बनाई हुई बातें हैं । जाओ ।"

"विश्वास न हो, तो चलकर मेरे साथ देख आओ । रानी, वे अचेत पड़े हैं ।"

"ऐसी स्पर्द्धा ? मैं तेरे साथ चलूँ देखने के लिए । चल, दूर हो, निकल यहाँ से । और सुन—घर खाली कर दे । मेरा माली वहाँ रहेगा ।"

कुसुम के मकान के सामने फूल का बगीचा था और पीछे फल का । फल के बगीचे के कोने में दो छोटे-छोटे मिट्टी के घर बने थे, वहीं यह मालिन रहती थी। दीर्घश्वास को हृदय में दबा कर चुपचाप उठकर मालिन चली गई । और कुसुम फिर अपनी चिन्ता में लौट आई । वह सिर दबाकर बैठ गई । दासी-चाकर व्यस्त हुये, गुलाबजल और पंखा लेकर दौड़े ।

वैसाख की पवन अग्नि जैसी तप्त हो रही थी । चील-कौए मारे प्यास के बिल्ला रहे थे । पीपल की छाया में बैठी गौरइयाँ हाँफ रही थीं । दाँड़ पर मैना, हीरामन स्तब्ध हो रहे थे। उनके सूखे कण्ठ में स्वर की झंकार मर मिटी थी ।

ग्राम का पथ अजगर की तरह निस्पन्द-निर्वाध पड़ा था और नदीजल सूखकर बीच मे हो रहा था । मैदान में यहाँ-वहाँ सूखे पत्तों के ढेर लगे थे । किसी चरवाहे का वंशीरव कभी-कभी गूँज उठता था । जमींदार के प्रासाद का कोलाहल नीरव था और उस प्रखर दोपहरी मे वह प्रासाद स्वर्ण-लंका के सुवर्ण द्वार-सा खड़ा था । कमरो मे खिड़कियो और दरवाजो मे खस की टट्टियाँ लगी थी, भीतर पखे चल रहे थे ।

एक दिन शीतल द्वार पर जोर से आघात होने लगा । विरक्त होकर कुसुम ने द्वार खोला । पतिदेव खड़े थे ।

"ऐसी गर्मी मे और दोपहर मे क्यो चले ? आओ भीतर बैठो । जरा ठंडे हो जाओ । फिर नहाना ।"

परेश आठ दिन के बाद घर लौटा था । पत्नी आग्रह से पुकारने लगी ; किन्तु पति ने किया कुछ नही, न हिला न डुला । केवल पूछा—"मालिन को पुलिस क्यों लिये जा रही है ?"

"रात को उसने चोरी की !"—कुसुम उपेक्षा से बोली ।

"कौन सी चीज ?"

"फल ; किन्तु तुम जाते कहाँ हो ?"

"वहीं ।"

"कहाँ ?"

"मालिन को छुड़ाने ।"

क्रोध मे कुसुम अपनी सत्ता तक को खो बैठी—"ऐसा नहीं हो सकता । मेरी आज्ञा पर किसी की जोर-जबरदस्ती नहीं चल सकती । मेरे आत्म-सम्मान का जहाँ ऐसा अपमान हो, वहाँ मैं रह भी नहीं सकती ।"

परेश लौट कर खड़ा हो गया—"तुम्हारे कार्य, आज्ञा पर तो मैं कभी हाथ नहीं उठाता कुसुम ।"

"फिर आज तुम यह क्या करने जा रहे हो ? पूरे ग्राम के सामने मेरा

अपमान क्यों कर रहे हो ?"

"केवल अपने सम्मान के लिए। क्या एक दरिद्र परिवार की मृत्यु तुम्हारा काम है कुसुम ? मैं चला।"

"तो मैं भी चुप न रहूँगी, पहले उसे निकालूँगी, तब मैं निकलूँगी। अपने हाथों उसका सामान निकालकर फेंकूँगी।"

वह हंसा, स्निग्ध, निर्मल, उदार हँसी—जाओ अपनी आँखों से उस दृश्य को देखो। उसके बाद भी यदि उसका सामान फेंक सको, तो मैं निषेध न करूँगा ; किन्तु इन बातों को सुनता कौन ! चप्पल घसीटती तब तक कुसुम उद्यान-पथ पर पहुँच गई। एक पल परेश चुपचाप खड़ा रहा, फिर गाड़ी पर बैठकर कोतवाली की ओर चल पड़ा।

प्रलयकाल की क्रुद्ध आंधी सी कुसुम माली के घर के बीच में आकर खड़ी हो गई—'*निकलो, दूर हो यहाँ से। किन्तु—किन्तु यह क्या ? आँखों के सामने मौत के इस नग्न रथ को, दरिद्रता के अस्थि-पंजर को, भूख के इस करुण चीत्कार को किसने रख दिया ? सुख, ऐश्वर्य, विलासिता के भीतर* ऐसे कुत्सित दारिद्र्य का जन्म किसने और कब दे दिया ? कुसुम सिहर तो जरूर उठी, किन्तु उसके बाद भी उसके स्वर से परिहास, अविश्वास मूर्तिमान हो उठा। फिर यह तो वही जाने यह परिहास किसके लिए था—अपने-आपके लिए, उस दरिद्रता के लिये अथवा अपनी ही पराजय के विरुद्ध।

"यह सब बनावटी है। चलो—घर खाली करो। हाँ, अभी।" वह कोने की ओर बढ़ी। फटे, मैले चीथड़े पर एक हाड़ का ढाँचा पड़ा था, उसकी कमर में एक लंगोटी बँधी थी और उन हड्डियों पर चमड़े का सिकुड़ा, शिथिल आवरण काला पड़ गया था। मुन्दित नैत्र इंच-भर गढ्ढे में धस गये थे, हृदय-स्पन्दन शायद था भी नहीं। यदि था भी, तो बहुत धीमा, दाँत बाहर निकल आये थे। कुसुम वहीं अचल हो रही। वह अवाक् थी—वस्त्र के नीचे माली ने इस हड्डी के ढाँचे को कैसे छिपाकर रखा था ?

कथा-वीथी

बार-बार कुसुम सिहरने लगी, दारिद्र्य, अभाव एसा भयानक, भयावह, ऐसा कुत्सित ! और वह इसी से परिचित होने के लिए ऐसी दोपहरी मे दौड़ी चली आई थी ? वह विस्मय से स्तम्भित सी विचार चली—ऐसे अभाव, दैन्य, क्षुधा को इन इनी गिनी हड्डियों के भीतर माली ने बन्द ही कैसे कर रखा था ? उसने चकित, भीत नेत्र से एक बार दूसरी ओर देखा—नग्न बालक-बालिका निर्जीव से पड़े थे। जो अभी तक बार-बार क्षुधा से चिल्ला रहे थे, अब वे सब चुप थे और मारे भय के उसकी ओर देखते हुए मिट्टी के घड़े और चीथड़ो के नीचे छिप रहे थे। सबसे छोटा बालक केवल 'अम्मा" कहकर चिल्ला रहा था।

कुसुम विवर्ण हो उठी। दोनो हाथो से मुँह छिपाकर दूसरे ही पल वह भागी। जेठानी पुकारती ही रह गयी। उसने कमरे का द्वार भीतर से बन्द कर लिया।

न किन्तु, न परन्तु—अब तो जीवन से समझौता करने की जरूरत उसे पड़ गई थी।

हुए पाया।

"इतना मगन होकर क्या पढ़ रहे हो ?" उसने हँसते हुये पूछा था तो विपिन हल्के से सकपका गया और सारी बात को टालते हुये उसने ढेर-सा चिउड़ा अपनी प्लेट में डाल लिया था। मंजरी को लगा कि उस दिन वह कुछ जरूरत से ज्यादा तारीफ करने के मूड में आया हुआ है। वह लगातार प्रसंगहीन बातें किये चला जा रहा था, पर सब कुछ मंजरी के मन को छुए बिना ही निकल गया।

रोज़ की तरह दोनों साथ ही घर से निकले थे, पर वह एक पीरियड के बाद ही सिरदर्द का बहाना करके घर लौट आयी। सारे रास्ते उसका सिर चकराता रहा था। घर में घुसते समय जाने क्यों लगा, जैसे वह किसी और के घर में घुस रही है।

वह सीधी टेबल के पास गयी। टेबल पर पड़ी पुस्तकें, फाइलें, कागज-पत्तर सब उसने पलटे, पर वे कागज नहीं थे। उसे खुद आश्चर्य हो रहा था, एक झलक भर में उसने कैसे उन कागजों की ऐसी गहरी पहचान कर ली। उसने झटके से पहली दराज खोली। उसमें कुछ मित्रों और रिश्तेदारों के पत्र थे। एक-दो विवाह के निमन्त्रण-पत्र थे, अपाइण्टमेण्ट की डायरी थी, अखबारों की कुछ कतरनें थीं। उसने बीच की दराज खोली, उसमें पास-बुक और चैक-बुक थी, मकान और बिजली के बिल की रसीदें थीं। एक ओर तहाये हुये कुछ रुमाल पड़े थे। उसने तीसरी दराज खींची तो वह खुली नहीं। उसमें ताला लगा हुआ था। दराज में ताला होना न कोई ऐसी अनहोनी बात है, न ही ऐसी भयंकर, फिर भी वह भीतर तक काँप उठी थी। उसने सारा घर छान मारा पर उसे चाबियाँ नहीं मिलीं। और तब सचमुच ही उसका सिर बुरी तरह दर्द करने लगा था और वह मुँह पर साड़ी का पल्ला डालकर सारे दिन लेटी रही।

उस रात जब वह सोयी तो भीतर ही भीतर उसके कुछ घुमड़ता रहा

मन्नू भण्डारी | बन्द दराजों का सा

उसकी मेज बहुत बड़ी थी। और तीन दराजों में बँटी हुई थी। बायें
ओर वाली दराज व्यक्तिगत थी, बीचवाली पारिवारिक और दाहिनी को
चाहें तो सामाजिक कह लें। यह विभाजन मंजरी का ही किया हुआ था, औ
उसने काफी दिनों बाद किया था, उन दिनों जबकि उन दोनों के बीच भी
एक विभाजन-रेखा खिंच गयी थी। आरम्भ के दिनों में तो उसका ध्यान
दराजों की ओर क्या जाता, मेज की ओर भी नहीं गया था। तब सारे घर
में पलंग ही सबसे आकर्षक लगता था और मन करता था कि दिन के चौबीस
घण्टे किसी तरह रात के आठ घण्टों में ही सिमट जायें। विपिन का शरीर
उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पर्याय बना हुआ था और यह बात कभी दिमाग
में भी नहीं आती थी कि शरीर से परे भी उसका कोई व्यक्तित्व और अस्तित्व
हो सकता है, सम्बन्ध और सम्पर्क हो सकते हैं, कोई अपना जीवन हो
सकता है।

पर यह सब बहुत शुरू की बातें थीं। उन दिनों की, जब मनों में कोई भेद नहीं था और इसीलिए जैसे सब तरफ के भेद मिट गये थे। सारी ऋतुएं बसन्त के समान सुहानी लगती थीं। आराम के समय काम की चुस्ती का अहसास होता रहता था और काम करने में भी अजीब तरह का आराम मिलता था।

वह बसन्त की सुहानी सुबह थी। गीले बालों की ढीली-सी चोटी बांधकर बड़े मन से मंजरी ने मटर-चिउड़ा बनाया था। हर काम वह बड़े मन से करती थी और उसके गीत सारे घर में गूंजा करते थे। वह ट्रे में सारा सामान सजाकर ले गयी, तभी उसने विपिन को कुछ कागजों में डूबे

हुए पाया।

"इतना मगन होकर क्या पढ़ रहे हो ?" उसने हँसते हुये पूछा था तो विपिन हलके से सकपका गया और सारी बात को टालते हुये उसने ढेर-सा चिउड़ा अपनी प्लेट में डाल लिया था। मंजरी को लगा कि उस दिन वह कुछ जरूरत से ज्यादा तारीफ करने के मूड में आया हुआ है। वह लगातार प्रसंगहीन बातें किये चला जा रहा था, पर सब कुछ मंजरी के मन को छुए बिना ही निकल गया।

रोज की तरह दोनों साथ ही घर से निकले थे, पर वह एक पीरियड के बाद ही सिरदर्द का बहाना करके घर लौट आयी। सारे रास्ते उसका सिर चकराता रहा था। घर में घुसते समय जाने क्यों लगा, जैसे वह किसी और के घर में घुस रही है।

वह सीधी टेबल के पास गयी। टेबल पर पड़ी पुस्तकें, फाइलें, कागज-पत्तर सब उसने पलटे, पर वे कागज नहीं थे। उसे खुद आश्चर्य हो रहा था, एक झलक भर में उसने कैसे उन कागजों की ऐसी गहरी पहचान कर ली। उसने झटके से पहली दराज खोली। उसमें कुछ मित्रों और रिश्तेदारों के पत्र थे। एक-दो विवाह के निमन्त्रण-पत्र थे, अपाइण्टमेण्ट की डायरी थी, अखबारों की कुछ कतरनें थीं। उसने बीच की दराज खोली, उसमें पास-बुक और चैक-बुक थी, मकान और बिजली के बिल की रसीदें थीं। एक ओर तहाये हुये कुछ रुमाल पड़े थे। उसने तीसरी दराज खींची तो वह खुली नहीं। उसमें ताला लगा हुआ था। दराज में ताला होना न कोई ऐसी अनहोनी बात है, न ही ऐसी खबर, फिर भी वह भीतर तक काँप उठी थी। उसने सारा घर छान मारा पर उसे चाभियाँ नहीं मिलीं। और तब सचमुच ही उसका सिर बुरी तरह दर्द करने लगा था और वह मुँह पर साड़ी का पल्ला डालकर सारे दिन लेटी र[illegible]

उस रात जब वह सोयी त[illegible] [illegible]तर ही भीतर उसके कुछ घुमड़ता रहा

था। रुलाई का वेग जैसे फूटा पड़ना चाहता था, फिर भी उसने सोच लिया था कि वह जब तक सारी बात का पता नहीं लगा लेगी, तब तक एक शब्द भी नहीं कहेगी। रोज की तरह विपिन ने उसे बाँहों में लिया था पर न जाने क्यों, उसने भीतर ही भीतर महसूस किया कि उसके साथ सोनेवाला, उसे प्यार करनेवाला विपिन सम्पूर्ण नहीं है, केवल खण्ड है, एक टुकड़ा। सम्पूर्ण विपिन उसे हमेशा फूल की तरह हलका लगता था, पर खण्डित विपिन का बोझ उसके लिए जैसे असह्य हो उठा। बार-बार उसका मन करता रहा कि वह उसी से साफ-साफ पूछ ले, लड़ ले, झगड़ ले, पर दराज का ताला जैसे उसकी जबान पर आकर लग गया था। वह सारी रात कसमसाती रही पर बोला उससे कुछ नहीं गया था।

औरत की नजर यों ही बड़ी पैनी होती है, फिर उस पर यदि सन्देह की सान चढ़ जाये तो आकाश-पाताल चीरने में भी उसे देर नहीं लगती। दूसरे दिन ही वह बन्द दराज उसके सामने खुली पड़ी थी, जो विपिन की निहायत निजी और व्यक्तिगत थी। कुछ डायरियाँ, एक महिला और बच्ची की तस्वीरें, पत्र, काँच के ट्यूब में गोलियाँ और क्रोध, घृणा, दुःख की मिली जुली भावनाओं का तूफान उसके मन में उठ रहा था। सिर थामकर वह घण्टों वहीं बैठी रही थी। फूट-फूटकर रोती रही थी। उसे बराबर लग रहा था कि जिसे धरती समझकर उसने पैर रखा था, वहाँ शून्य था, कि जैसे वह एकाएक बेसहारा हो गयी है। उसे अपने घर की छत और दीवारें सब हिलती नजर आने लगी थीं।

क्योंकि दराज में विपिन का केवल अतीत ही नहीं था, वर्तमान भी था और उसमें भविष्य की योजनायें भी। वह जैसे जैसे विपिन के व्यक्तिगत जीवन के निकट होती जा रही थी, अनजाने और अनचाहे ही विपिन से दूर होती जा रही थी। धीरे-धीरे मनों की यह दूरी शरीर में भी फैलती चली गयी थी। और वे अनायास ही एक दूसरे के लिए निहायत अपरिचित-से हो

गये

दोनों के पास अपने-अपने तर्क थे और दोनों ही इस बात की अ
तरह जानते थे कि ये तर्क उन्हें कहीं नहीं ले जायेंगे। फिर भी हर ती
दिन घण्टों बहसें होती थीं और उसकी समाप्ति मंजरी के आँसू ही करते
अब स्नेह का स्थान सन्देह ने ले लिया था और तर्कों ने सद्भावना के रे
रेशे उधेड़ दिये थे।

तब मंजरी अपने ही घर में बहुत अकेली हो उठी थी और सब
बड़ा वीरान लगने लगा था। हर काम बोझ लगने लगा था। खाली स
और भी बोझिल। वह घन्टों किताब खोले बैठी रहती थी, पर पंक्तियाँ के
आँखों के नीचे से गुजरती थीं, मन उनमें अछूता रहता था। कापियाँ दे
बैठती तो उसकी साथिनें मजाक करती थीं कि वह इम्तिहान की कापि
देख रही है या प्रूफ। विपिन से सम्बन्ध क्या गड़बड़ाया था उसकी सम
इन्द्रियों के आपसी सम्बन्ध गड़बड़ा गये थे।

वह घर के सारे खिड़की-दरवाजे खुले रखती थी फिर भी लगता र
था कि साफ हवा के अभाव में घर की हवा धीरे-धीरे जहरीली होती
रही है, और कोई है, जो उसके देखते-देखते मरता जा रहा है। न वह
बचा सकती है और न ही निर्दयतापूर्वक मार सकती है। यों भीतर ही भी
वह तरह-तरह के संकल्प करती थी, पर उसने उन्हें कभी विचारों से
नहीं बढ़ने दिया, क्योंकि घर में बहुत जल्दी ही एक तीसरा प्राणी आनेव
था। उसने उसके और अपने दुर्भाग्य को साथ साथ ही कोसा था, पर उ
बावजूद मन में कहीं एक हलकी-सी आशा भी झाँकने लगी थी, शायद
अनागत ही उनके बीच में कहीं सेतु बन जाये।

पर सालभर के भीतर ही भीतर उसने अच्छी तरह जान लिया
इस युग में आशा करना ही मूर्खता है, क्योंकि आज जिन्दगी का हर प
हर स्थिति और हर सम्बन्ध एक समाधानहीन समस्या होकर ही आता

कथा-वी

जिसे सुलझाया नहीं जा सकता, केवल भोगा जा सकता है। जिसमें आदमी निरन्तर बिखरता और टूटता चलता है। और वह भी दो साल तक और बिखरी और टूटी थी। विपिन मन में कहीं हल्का सा आश्वस्त महसूस करने लगा था कि मंजरी ने शायद उस सबको स्वीकार लिया है, कि शायद अब वह कटेगी नहीं।

पर ऐसा हुआ नहीं। शादी की पांचवीं साल गिरह थी। वह दिन अपने सारे अर्थ खो चुकने पर भी दिन तो बना ही हुआ था। यों इस दिन न चाहने पर भी वह अपने को बहुत दुर्बल महसूस करती थी। उसकी यातना कई गुना बढ़ जाती थी। पर इस बार उसने वैसा कुछ भी अनुभव नहीं किया और बड़े आग्रह से विपिन को कहा था कि वह उसे संध्या के पाँच बजे ला-बोहीम में मिले।

ला-बोहीम का अँधेरा कोना। आस-पास की मेजें खाली थीं और अपनी मेज पर लटकती बत्ती को उसने बुझा दिया था। अँधेरा होने के साथ ही मंजरी के मन में एक क्षण को यह बात आयी थी कि आज के इस अँधेरे से ही वे चाहें तो अपनी जिन्दगी में कितनी रोशनी ला सकते हैं। उस समय भीतर ही भीतर कुछ कसका भी था, पर दूसरे ही क्षण उसने अपने को सहज बना लिया, यह सोचकर कि यह निरी भावुकता है और भावुकता को लेकर आदमी केवल कष्ट पा सकता है, जी नहीं सकता। मंजरी जीना चाहती थी—अपने लिए और अपने बच्चे के लिए।

और तीन घण्टे के बाद जब वे वहाँ से निकले तो उसे स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि कैसे वह इतने सहज और तटस्थ ढंग से सारी बात कर सकी, मानों ये सारे निर्णय उसने अपने लिए नहीं, किसी और के लिए लिये हों। वह खुद जानती है कि औरतें कभी पूरी तरह तटस्थ नहीं रह सकती, खासकर ऐसे साघातिक क्षणों में तो वे बात भी नहीं कर सकती, केवल रो ...ी हैं, भार-भार रो सकती हैं।

उससे भी ज्यादा आश्चर्य उसे तब हुआ था, जब अपने निर्णय को व्यावहारिक रूप देने के लिए वह अपना सारा सामान बटोरकर, दो महीने की छुट्टी ले दिल्ली से विदा हुई थी। विपिन ने बच्चे को बहुत प्यार किया था और एक बार उसे भी। फिर बहुत ठण्डे स्वर में कहा था—"मैं दिल्ली छोड़ दूँगा। इस सबके बाद मुझ से यहाँ रहा भी नहीं जायेगा। तुम शायद यहीं लौटकर आना पसन्द करोगी। इस घर को अपने नाम ही रहने दो।"

मंजरी तब तक यह तय नहीं कर पायी थी कि उसे कहाँ रहना है, क्या करना है। केवल एक विश्वास था कि जिस सहज ढंग से वह सारी स्थिति में उबरी है, उसी तरह नयी जिन्दगी का रास्ता भी खोज लेगी। फिर भी उसने घर अपने ही नाम रहने दिया। मानसिक तनाव के ऐसे विकट क्षणों में भी उसकी व्यावहारिक बुद्धि कुण्ठित नहीं हुई, तभी उसे लगा कि विपिन से ब्याह करके आनेवाली मंजरी पूरी तरह मर चुकी है। यह तो उसकी लाश से पैदा हुई दूसरी ही मंजरी है।

ऐन समय पर बहुत बड़ा नाटक होने की संभावना थी। बच्चे को लेकर कुछ हो सकता, पर कुछ नहीं हुआ। ऊपर से बड़े सहज ढंग के कुछ औपचारिक से वाक्यों का आदान-प्रदान हो रहा था और भीतर से मन मरे हुए थे। ट्रेन, प्लेटफार्म और प्लेटफार्म पर खड़े विपिन को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गयी थी और सब कुछ मंजरी ने सूखी आँखों से ही देखा था।

जब सब पीछे छूट गया तो भीतर से एक गहरी निःश्वास निकली थी, शायद मुक्ति की। अपने ही शरीर का फोड़ा जब सूख जाता है तो मरी हुई खाल को शरीर से खींचकर अलग करने समय जैसी भावना आती है, कुछ-कुछ वैसी ही।

दो महीने बाद वह उसी घर में लौटी थी। सबने उसे देखकर पूछा

क्या-क्यों

था कि क्या वह बीमार रहकर आयी है, वह बहुत दुबली हो गयी है, उसका चेहरा सूखा और काला हो गया है। उसे स्वयं महसूस होता था, पर उस सबसे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता था। उसने वहाँ आकर सबसे पहले चश्मा लिया, क्योंकि इसकी आँखें एकाएक ही बहुत कमजोर हो गयी थीं।

घर ज्यों का त्यों था, केवल वे सब चीजें वहाँ से हटा दी गयी थीं जिनके साथ विपिन की स्मृति लिपटी थी, वह मेज भी। मेजवाला वह कोना खाली रहने पर भी उसके मन में भय और वितृष्णा की मिली-जुली भावना पैदा किया करता था। वह विपिन से मुक्त होकर भी जैसे उस मेज से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पा रही थी।

घर के बचे हुए सामान पर धूल की परतें जमी हुई थीं। एक दिन तो वह उस घर में कुछ भी नहीं कर पायी, पर दूसरे दिन ही वह सफाई में जुट गयी। विपिन का कोई भी चिह्न वहाँ नहीं था, सिवाय एक-दो भरे हुए ऐश-ट्रे के। एक बार उन्हें खाली करते समय जरूर उसका हाथ कांपा था। घर साफ हो गया था फिर भी उसे बराबर लगता रहा था कि एक बड़ी ही परिचित गन्ध है जो उसमें बराबर बनी हुई है। वह किधर भी जाये, कहीं भी रहे, उस गन्ध के अहसास से मुक्त नहीं हो पाती थी।

तब उसने घर के सारे खिड़की-दरवाजे खुले रखने शुरू कर दिये थे। बाहर की साफ हवा, धूप आने के लिए। धीरे-धीरे उन खुले दरवाजों से हवा और धूप के साथ-साथ अनेक तरह की गन्ध, अनेक चेहरे और अनेक नजरें भी झाँकने लगी थीं। कुछ तरस लिये और कुछ आत्मीयता लिये। उसके साहस की प्रशंसा भी की जाती थी और कभी-कभी दबी जबान से यह समाचार भी दिया जाता था कि विपिन को किसी बच्ची और महिला के साथ देखा है। विपिन के लिए स्वर में भर्त्सना रहती थी, पर उसे न अपनी प्रशंसा छूती थी न विपिन की भर्त्सना।

पहले साल परिचित और नये चेहरों की संख्या काफी बढ़ी थी, फिर

धीरे-धीरे घटने लगी। हमदर्दों के लिए बात पुरानी हो चुकी थी और उन्हें लगता था कि वे अपना फर्ज अदा कर चुके हैं। सिर्फ एक चेहरा था जो निरन्तर बना रहा और घर मे बहुत भीतर तक प्रवेश कर गया। पर मंजरी किसी प्रकार की हड़बड़ी मे नहीं थी। हाँ, इतना जरूर हुआ कि एकाएक उसे बहुत-बहुत अकेलापन लगने लगा, नौकरी बोझ लगने लगी और जीवन नीरस।

कभी-कभी वह अकेले क्षणो मे सोचती, कि नहीं, वह अब जिन्दगी की राहों को बदलेगी नहीं। जिस तटस्थता से उसने सब कुछ झेला और अपने को टूटने नहीं दिया, उससे उसे लगने लगा था जैसे वह बहुत बड़ी हो गयी है, मैच्योर हो गयी है। इस उम्र मे यह सब शायद उसके लिए सम्भव नहीं होगा। पर जब भी वह चेहरा करीब आता, अनायास ही उसकी उम्र के दस साल कहीं चले जाते और तब वह सोचती कि नहीं, कहीं कुछ नहीं बिगड़ा है। दिनों ने गुजर कर उसकी उम्र की संख्या मे जरूर वृद्धि कर दी है पर भावनाएँ तो आज भी अछूती ही है। जिन्दगी के वे सुनहरे दिन, जब उसे अपनी भावनाओं को खर्च करना था, मरे हुए सम्बन्धो की लाश ढोने मे ही बीत गये।

फिर भी उसने तीन साल तक कोई निर्णय नहीं लिया। उसने सोचा था, केवल सोचा ही नहीं, चाहा था, बहुत सच्चाई और ईमानदारी से चाहा था कि जैसे वह विपिन के सम्बन्ध से उबर गयी थी, इस अकेलेपन से भी उबर जाये। पर उसने पाया कि वह अपने बेटे के सहारे अपने अकेलेपन से लड़ने की कोशिश कर रही है। उसे खुद महसूस हुआ कि असित के प्रति उसका व्यवहार कहीं असन्तुलित होता चला जा रहा है। लोगो ने उसे दबी-दबी जबान से सलाह दी थी कि उसे असित को होस्टल भेज देना चाहिए। पहले वह बराबर विरोध करती रही थी—कुछ आर्थिक कारणो से और कुछ इसलिए कि उसे भेजकर वह स्वयं कितनी अकेली हो जायेगी। पर फिर

कथा-वीथी

उसे खुद लगा था कि वह अपना अकेलापन खत्म करने के लिये, बच्चे का सारा भविष्य साथ लिये दे रही है।

तब उसने दो निर्णय एक साथ लिये थे। वह असित को होस्टल भेज देगी। वह अपना अकेलापन समाप्त करने के लिये सही और स्वाभाविक मार्ग ही अपनायेगी।

उसे इस बात पर खुशी भी हुई थी और हल्का-सा गर्व भी कि स्थिति बहुत अधिक *बिगड़ने से पहले ही वह एकाएक तटस्थ होकर चीजों को उनके सही रूप में देख लेती है और फिर उन्हीं के अनुरूप निर्णय ले पाती है।*

दिलीप अब साथ आ गया था और इसलिए जिन्दगी के दस वर्ष एकदम चले गये थे। घर बदल गया था और बिल्कुल नये ढंग से सजाया गया था। नये घर की साज-सज्जा में हमेशा कुछ-न-कुछ गुनगुनाते हुए वह काम किया करती थी। नौकरी उसने छोड़ दी थी, क्योंकि साथिनों की नजरों में झाँकती हिकारत उससे बर्दाश्त नहीं होती थी। वैसे भी इस काम से वह बहुत ऊब चुकी थी। अब दिसम्बर की सरदी में सारी रात किसी बाँहों में गरमाये रहने के बाद जब उसकी अलस आँखें खुलतीं तो सामने की ड्रेसिंग-टेबल पर उसे अपने प्रसाधन की अनेक चीजें सजी हुई दिखायी देती थीं, छमाही इम्तिहान की कॉपियों का गट्ठर नहीं। तब मन बहुत हलका और आश्वस्त हो आता था।

छुट्टियों में असित घर आया था। दिलीप को वह बराबर घर में देखता रहता था, सो मंजरी को दोनों को परिचित करने वाला संकट नहीं झेलना पड़ा। असित के आने से मंजरी बहुत प्रसन्न थी और उसे समझ नहीं आता था कि उसे क्या खिलाये, कहाँ घुमाये। दिलीप के जाते ही वह उसे लेकर निकल जाती। दिसम्बर की सुहानी धूप सारी दिल्ली को बेहद सुहाना और उत्फुल्ल बनाकर सड़कों-मैदानों पर फैली रहती थी। शाम को वे

टते, तो दोनों के हाथों में असित के फरमाइशी पैकेट होते थे।

छुट्टियाँ समाप्त होने पर असित लौटने लगा। उसके स्कूल के बच्चों
पूरा ग्रुप था। स्कूल से छः महीने का बिल भी आया था। दिलीप ने
ही कह दिया—"यह स्कूल काफी महँगा है, इस महीने यों भी काफी खर्च
गया तो मंजरी के चेहरे पर एक हलकी-सी छाया तैर गयी। बात
धारण थी और सच्ची भी। असित दिलीप का बच्चा होता तब भी
यह बात कह सकता था। पर असित दिलीप का बच्चा नहीं था
र क्योंकि सन्दर्भ दूसरा था इसलिए बात का अर्थ भी दूसरा हो गया।
लीप ने शायद स्थिति को भाँप लिया और सारी बात को सहज बनाने
लिए कहा, "क्या जमाना आ गया है, हम इतना पढ़ लिये हैं पर ऐसी
म्बी-चौड़ी फीस नहीं दी।" पर बात फिर भी शायद सहज नहीं हो पायी
। तब मंजरी को पहली बार अपनी नौकरी छोड़ने पर अफसोस हुआ।

और उसके बाद धीरे-धीरे फिर उस घर में एक अदृश्य मेज उभर आयी
, पर वह मेज दिलीप के कमरे में नहीं, मंजरी के कमरे में आयी थी और
दो दरवाजों में बंटी हुई थी—एक व्यक्तिगत, एक पारिवारिक, व्यक्ति-
दराज में असित के फरमाइशी-पत्र, उसके चित्र, उसके स्कूल की रिपोर्ट
र विपिन के कुछ औपचारिक पत्र थे, जिसमें यह आश्वासन दिया गया
कि असित का आधा खर्च वह दिया करेगा।

और मेज का वह विभाजन फिर पहले की तरह मन और शरीरों में
उा हुआ सारे घर में फैल गया था। बाहर से कुछ नहीं था—न बात-
त में, न व्यवहार में। पर अनजाने और अनचाहे ही भीतर से जैसे मन
गये थे, जिन्दगी बंट गयी थी। इस बार हालांकि प्रसंग और स्थितियाँ
री थीं, पर बंटने की पीड़ा वही थी, वैसी ही थी।

रात में दिन में, लेटे-लेटे मंजरी न जाने क्या-क्या सोचा करती! अब-
विपिन भी याद आने लगा और आश्चर्य यह कि उसका यों याद आना